अशोक

चन्द्रगुप्त विद्यालंकार

सोल एजेंट
मेहरचन्द्र लक्ष्मणदास
संस्कृत हिन्दी पुस्तकविक्रेता
सैदमिट्ठा बाज़ार, लाहौर ।

विश्व-साहित्य-ग्रन्थमाला
'नाटक-विभाग' का पहला ग्रन्थ

अशोक

(मौलिक नाटक)

लेखक—
चन्द्रगुप्त विद्यालंकार

द्वितीय संस्करण
५०००

मई
१९३७

निवेदन

ग़लत या सही, यह विश्वास मुझे बहुत दिनों से है कि मैं एक सफल नाटककार बन सकता हूँ। और मेरे इसी विश्वास का पहला फल यह "अशोक" नाटक है। कला के समालोचकों से मेरा अनुरोध है कि वे इस नाटक की खरी-खरी आलोचना करें। मैं उन्हें विश्वास दिलाता हूँ कि प्रतिकूल आलोचना सुन कर भी मैं निराश या हतोत्साह नहीं होऊँगा।

"अशोक" के सम्बन्ध में, यदि ज़रूरत हुई, तो कैफ़ियत फिर कभी दूँगा। यहाँ मैं सिर्फ़ एक ही निवेदन करना चाहता हूँ। पहले नाटक प्रायः रंगमंच पर खेलने के लिए लिखे जाया करते थे। परन्तु अब रंगमंच का स्थान चलचित्रों ने ले लिया है। इस नाटक में मैंने अनेक दृश्य ऐसे रक्खे हैं, जिन्हें रंगमंच पर तो आसानी से नहीं खेला जा सकता, परन्तु उनका चित्र बनाने में कोई कठिनाई न होगी।

इस नाटक के गीतों के लिए मैं अपनी पसन्द के श्रेष्ठ कवि श्री प्रियहंस जी का कृतज्ञ हूँ। उनकी कृपा न होती तो शायद "अशोक" में एक भी गीत न जा सकता।

हिन्दी-जगत् ने यदि मेरा यह प्रयास पसन्द किया तो मैं अन्य भी अनेक नाटक उसकी भेंट कर सकूँगा।

आशा-निकेतन
लाहौर
११ सितम्बर १९३५

—चन्द्रगुप्त विद्यालंकार

कैफ़ियत

'अशोक' का प्रथम संस्करण एक वर्ष में समाप्त हो जाने के लिए मैं हिन्दी-जगत् का आभार मानता हूँ, यद्यपि अन्य भाषाओं के साहित्य की बिक्री की रफ़्तार देखते हुए यह संख्या बहुत सन्तोष-जनक नहीं है।

देवानांप्रिय, धम्म-साम्राज्य के प्रवर्तक सम्राट् अशोक के प्रारम्भिक जीवन को एक निर्दय और महात्वाकांक्षी विजेता के रूप में पेश करने की बात को लेकर इस 'अशोक' नाटक के सम्बन्ध में अनेक जगह आलोचना हुई है। वास्तव में मेरे इस नाटक की कथावस्तु का आधार महावंश की वह गाथा है, जिसके अनुसार राजकुमार अशोक अपने बड़े भाई युवराज सुमन की हत्या कर के मगध-साम्राज्य के अधिपति बन पाए थे। इस कथा के रहते इस नाटक की कल्पना को निराधार नहीं कहा जा सकता।

इस संस्करण में मैंने जो परिवर्तन किए हैं, आशा है, पाठक उन्हें पसन्द करेंगे।

आशा-निकेतन
लाहौर
५ मई, १९३७

—चन्द्रगुप्त विद्यालंकार

अशोक

नाटक के पात्र

पुरुष

बिन्दुसार—भारत सम्राट् (अशोक के पिता)

सुमन—युवराज (बिन्दुसार के बड़े पुत्र)

अशोक—भारत सम्राट् (बिन्दुसार के मँझले पुत्र)

तिष्य—बिन्दुसार के छोटे पुत्र

आचार्य उपगुप्त—सम्राट् अशोक के गुरु (बौद्ध-धर्म के सब से बड़े नेता)

चण्डगिरी—पहले क्षत्रप, फिर सेनापति

मौखरी—पहले सहायक सेनापति, फिर सेनापति

दीपवर्धन—शीला के पिता

कुणाल } सम्राट अशोक के पुत्र
महेन्द्र }

स्त्री

शीला—युवराज सुमन की वाग्दत्ता वधू

तिषी—(तिष्य रक्षिता)—अशोक की पत्नी (सम्राज्ञी)

चित्रा—अशोक की बहन

संघमित्रा—अशोक की पुत्री

स्थान

पाटलीपुत्र—भारत साम्राज्य की राजधानी

तक्षशिला—सीमाप्रान्त की राजधानी

तुशाली—कलिंग की राजधानी

वैशाली—मगध साम्राज्य का एक प्रमुख नगर

अशोक

प्रथम अंक

पहला दृश्य

स्थान—पाटलीपुत्र।

समय—सायंकाल।

[युवराज सुमन अपने दोनों भाइयों, अशोक तथा तिष्य के साथ सायंकाल की पोशाक पहने हुए राजप्रासाद के उद्यान में खड़े हैं। नगर के मन्दिरों में आरती हो रही है और उसकी हल्की-हल्की आवाज़ राजकुमारों के कानों में पड़ रही है।]

सुमन—तुमने भी कुछ सुना तिष्य ?

तिष्य—क्या चीज़ ? यह आरती के घण्टों की मधुर ध्वनि ?

सुमन—बस, तुम्हारी कल्पना और तुम्हारा संसार तो यहाँ तक ही सीमित है। (घूम कर) अशोक, तुमने तिष्य से तक्षशिला के विद्रोह का ज़िक्र नहीं किया ?

अशोक—नहीं युवराज, मुझे ख़याल ही नहीं आया; और तिष्य को ये बातें जानने की आवश्यकता भी क्या है।

सुमन—ख़ैर, जाने दो। यह बताओ कि तुमने तक्षशिला जाने के सम्बन्ध में क्या निश्चय किया है ?—

अशोक—तक्षशिला के विद्रोह को तो मैं बच्चों का खिलवाड़ समझता हूँ। दो-एक व्यक्तियों के कान ऐंठ देने से ही यह विद्रोह शान्त हो जायगा।

सुमन—मगर कान ऐंठने के लिए भी तो तुम्हारा वहाँ जाना ज़रूरी है न?

[धीरे-धीरे तिष्य दोनों भाइयों से पृथक् होकर दूर जा खड़ा होता है और दूर पर दिखाई देने वाले मन्दिरों के शिखरों की ओर देखने लगता है।]

अशोक—जाने में तो कोई हानि नहीं। परन्तु इन दिनों राजधानी में ही रहने को जी चाहता है।

सुमन—यह किस लिए?

अशोक—इसका कोई विशेष कारण नहीं है युवराज। यों ही, बाहर जाने को जी नहीं चाहता।

सुमन—मगर राजकीय कर्तव्य जी की चाह से ऊपर की चीज़ है, यह तो तुम मानते हो न अशोक?

अशोक—इस साम्राज्य के युवराज को राजकीय कर्तव्य की चिन्ता एक साधारण राजकुमार की अपेक्षा कहीं अधिक होनी चाहिए।

सुमन—क्या कहा, साधारण राजकुमार! अशोक, तुम जानते हो न कि तुम्हारे इस कथन का अभिप्राय क्या है?

[अशोक कोई जवाब नहीं देता, वह आँखें नीची करके चुपचाप खड़ा रहता है।]

सुमन—(भर्राई हुई आवाज़ में) अशोक!

(अशोक उसी तरह चुपचाप खड़ा रहता है।)

सुमन—भाई अशोक!

अशोक—(धीरे से) कहिए, मुझे कब तक्षशिला जाना होगा?

सुमन—अशोक, सच-सच कहो; तुम्हें मेरा युवराज होना पसन्द नहीं है क्या ?

अशोक—मैंने तो यह नहीं कहा !

सुमन—सच-सच कहो अशोक ! (गला भर आता है।)

अशोक—मुझे क्षमा कीजिए युवराज !

सुमन—मुझे युवराज मत कहो; भाई कह कर पुकारो, सिर्फ़ भाई।

अशोक—मैं कल सुबह ही तक्षशिला के लिए प्रस्थान कर जाऊँगा भाई साहब !

सुमन—(अशोक के कन्धे पर हाथ रख कर) मेरी ओर देखो अशोक !

(इसी समय तिष्य नज़दीक आकर कहता है)

तिष्य—(सुमन की ओर लक्ष्य करके) एक बात का जवाब देंगे भाई साहब ? (प्रायः साथ-ही-साथ) मगर इस तरह अचानक बीच में आकर बाधा डाल देने के लिए मुझे क्षमा कीजिएगा।

सुमन—(जबरदस्ती थोड़ा-सा मुसकरा कर) क्या पूछते हो तिष्य ?

तिष्य—कोई ख़ास बात तो है नहीं। मगर आप यह बताइए कि आपने अभी तक विवाह क्यों नहीं किया ?

(सुमन और अशोक दोनों मुसकरा पड़ते हैं।)

तिष्य—(ज़रा गम्भीर होकर) उँह, आप दोनों मुझे अभी तक बच्चा समझते हैं !

अशोक—और नहीं तो तुम किसी के बुज़ुर्ग हो क्या ?

सुमन—अच्छा तिष्य, तुम्हें अचानक यह प्रश्न सूझ कैसे गया ?

तिष्य—(खुश होकर) देखिए न भाई साहब ! अभी-अभी, जब आप दोनों यहाँ आपस में बहस करने में व्यस्त थे, मैं कुछ दूर खड़े रह कर मन्दिरों के वाद्य की अस्पष्ट ध्वनि सुनने का आनन्द ले रहा था। अचानक एक स्वर मुझे ऐसा भी सुनाई दिया, जो कल ही भाभी ने मुझे सुनाया था। ओह, भाभी कितनी अच्छी वीणा बजाती है। सहसा मुझे भाभी की याद आ गई और उसके बाद अचानक यों ही ख़याल आ गया कि जब अशोक मेरे लिए एक भाभी ला चुके हैं, तो फिर आपने अभी तक विवाह क्यों नहीं किया।

अशोक—नहीं तिष्य, तुमने अभी तक ठीक-ठीक कारण नहीं बताया।

तिष्य—क्या नहीं बताया ?

अशोक—वास्तविक कारण।

तिष्य—अच्छा, आप ही बता दीजिए।

अशोक—तुम्हें अचानक इच्छा हुई होगी कि मैं भी क्यों न शीघ्र ही विवाह कर लूँ। इसके बाद तुम्हें ख़याल आया होगा कि जब तक सबसे बड़े भाई का विवाह न हो जाय, जब तक तुम्हारी ओर ध्यान ही कौन देगा। क्यों, है न यही बात !

तिष्य—(सुमन की ओर देख कर) देखिए न भाई साहब, यह सदैव मुझे इसी तरह खिजाया करते हैं।

सुमन—(ज़रा-सा मुसकरा कर) राजप्रासाद की पूजा का समय हो गया। चलो, उस ओर चलें।

[तीनों भाइयों का प्रस्थान। सुमन का चेहरा अब भी काफ़ी उदास प्रतीत हो रहा है।]

दूसरा दृश्य

स्थान—तक्षशिला के मुख्य बाज़ार का एक भाग।

समय—मध्याह्नोत्तर।

(नागरिकों की एक भीड़ एकत्र है और शोर-गुल हो रहा है।)

एक नागरिक—क्षत्रप चण्डगिरी आज सुबह से दिखाई नहीं दिया।

दूसरा ना०—हाँ, हाँ, दिखाई तो वह सचमुच नहीं दिया।

तीसरा ना०—चण्डगिरी भाग गया।

चौथा ना०—(चिल्ला कर) चण्डगिरी का नाश हो ?

सब लोग—(एक साथ चिल्ला कर) पापी चण्डगिरी का नाश हो।

पहला नागरिक—वह दुष्ट यदि इस समय मुझे दिखाई दे जाय तो मैं उसका सिर काट डालूँ।

दूसरा नागरिक—वाह, तुम ऐसे ही तो वीर हो।

पहला ना०—और तुमने मुझे क्या समझ रक्खा है।

दूसरा न०—एक आदमी।

पहला ना०—(झुंझला कर) मगर मैं तो तुम्हें आदमी भी नहीं समझता।

नागरिकों का नेता—(ज़रा ऊँचे स्थान पर खड़े हो कर) भाइयो, ज़रा शान्त हो जाओ।

(सन्नाटा छा जाता है।)

नेता—तुमने एक नया समाचार सुना ?

एक नागरिक—नहीं, कोई नहीं।

नेता—सम्राट् ने हमें विद्रोही घोषित कर दिया है

और राजकुमार अशोक हमें दण्ड देने के लिए बहुत शीघ्र तक्षशिला पहुँच रहे है।

पहला नागरिक—मगर क्या वह हमारी बात भी न सुनेंगे?

नेता—हम विद्रोही हैं; हमारी बात कौन सुनेगा।

तीसरा ना०—(चिल्ला कर) तक्षशिला के नागरिको, किसी के समने मत झुको।

चौथा ना०—(ऊँचे स्वर में) तक्षशिला की स्वाधीनता अमर रहे।

सब लोग—(एक साथ) तक्षशिला की स्वाधीनता अमर रहे!

नेता—भाइयो, हमारे धैर्य और साहस की परीक्षा का वास्तविक अवसर अब आया है। यह मत समझ लो कि तक्षशिला के राजप्रासाद को आग लगा कर और पापी चण्डगिरी को भगा कर हमारे कर्तव्य की समाप्ति हो गई। नहीं, कदापि नहीं। चण्डगिरी भाग गया है, मगर वे लोग मौजूद हैं, जिन्होंने चण्डगिरी को चण्डगिरी बनाया था। एक चण्डगिरी चला गया, तो उसकी जगह वे दूसरा चण्डगिरी भेज देंगे। नागरिको, अपनी वीरता पर कलंक मत आने दो। उनके हाथ में शक्ति है, राजदण्ड है, सेना है। मगर याद रक्खो, उनकी यह शक्ति हम लोगों की दृढ़ता के मुकाबले में चूर-चूर हो जायगी। हम लोग यदि आपस में मिलकर रहेंगे, संगठित रहेंगे, तो सम्राट् की भाड़े की सेना हमारी मातृ-भूमि की स्वतन्त्रता का अपहरण नहीं कर सकेगी! तक्षशिला की स्वाधीनता अमर रहेगी!

सब लोग—(चिल्ला कर) तक्षशिला का गौरव अमर रहे !

नेता—शाबास, भाइयो ! याद रक्खो, हम लोग तक्षशिला के नागरिक हैं। वह गरिमाशाली तक्षशिला, जो संसार के ज्ञान का, संसार की विद्या का और संसार के विचारों का केन्द्र हैं। सम्पूर्ण विश्व आज तक्षशिला के सन्मुख आदर के साथ सिर झुकाता है। हम लोग गर्व के साथ, अपना सिर ऊँचा करके कह सकते हैं कि जो कुछ तक्षशिला सोचता है, वही कुछ सारा संसार सोचने लगता है।

नागरिको, तुम्हारी इसी गरिमाशालिनी मातृभूमि की स्वाधीनता का अपहरण करने के लिए, पापी और अत्याचारी चण्डगिरी का समर्थन करने के लिए सम्राट् ने अपने उद्दण्ड पुत्र राजकुमार अशोक को भेजा है। अशोक अपनी सेना-सहित शीघ्र ही तक्षशिला पहुँचनेवाला है। बोलो, इस समाचार ने तुम्हें डरा तो नहीं दिया ?

अनेक आवाज़ें—नहीं, कदापि नहीं।

नेता—शीघ्र ही अशोक तक्षशिला पहुँच जायगा और तब तुम्हारे साहस की परीक्षा होगी। तब तुम लोग कायर तो नहीं बनोगे ?

अनेक आवाज़ें—नहीं, कभी नहीं।

(भीड़ में से सैनिक वेशधारी एक विदेशी युवक आगे बढ़कर कहता है)

विदेशी सैनिक—अशोक तक्षशिला पहुँच गया है।

नेता—सचमुच ?

वि० सैनिक—जी हाँ।

एक आवाज़—चलो, उस पर हमला करें।

दूसरी आवाज़—अशोक के शिवर को आग लगा दो।

तीसरी आवाज़—अशोक का सत्यानाश हो !

सब लोग—अशोक का सत्यानाश हो !

चौथी आवाज़—चलो, अभी चलो।

पाँचवीं आवाज़—अशोक की सेना का डेरा किस ओर है ?

छठी आवाज़—उत्तर दिशा में।

सातवीं आवाज़—नहीं, दक्षिण में।

आठवीं आवाज़—नहीं, पश्चिम में।

नौवीं आवाज़—चलो, किसी ओर तो चलो।

सब लोग—चलो, चलो।

[वही विदेशी सैनिक कूद कर एक ऊँचे स्थान पर चढ़ जाता है और चिल्ला कर कहता है।]

विदेशी सैनिक—ठहरो !

(सब लोग चौंक कर उसकी ओर देखने लगते हैं।)

वि० सैनिक—तक्षशिला के नागरिको, तुम में से किसी ने अशोक को देखा है ?

(एक क्षण तक सब लोग विस्मय से उसकी ओर देखते रहते हैं, उसके बाद)

एक आवाज़—यह कौन है ?

दूसरी आवाज़—जासूस है !

तीसरी आवाज़—नहीं; यात्री है।

चौथी आज़—नहीं; सैनिक है।

पाँचवीं आवाज़—नहीं; विद्यार्थी है।

नेता—तुम कौन हो ?

वि० सैनिक—मैं एक क्षत्रिय हूँ। मगर मेरी बात का जवाब दो कि तुममें से किसी ने अशोक को कभी देखा है ?

नेता—नहीं, किसी ने भी नहीं।

वि० सैनिक—यदि वह तुम्हारे सन्मुख आ जाय, तो तुम उसे पहिचान सकोगे ?

नेता—नहीं पहिचान सकेंगे।

वि० सैनिक—तो जिस व्यक्ति को तुमने न देखा है, और न जिसे तुम पहिचानते हो, उसे तुम अपना शत्रु किस तरह समझ रहे हो ?

नेता—वह चण्डगिरी की सहायता करने आया है !

वि० सैनिक—यह बात तुम कैसे कह सकते हो ?

(नेता के जवाब देने से पूर्व ही)

एक आवाज़—दुश्मन है !

दूसरी आवाज़—भेदी है !

तीसरी आवाज़—देखना, जाने न पाए।

विदेशी सैनिक—(ऊँचे स्वर में) चुप हो जाओ। नागरिको, मैं स्वयं तुम्हें अपना परिचय देता हूँ। सुनो, मैं ही राजकुमार अशोक हूँ।

[वह अपने कपड़ों में से राजपट्ट निकाल कर ऊँचा कर देता है। सभी नागरिक चकित होकर अशोक की ओर देखने लगते हैं। सदा के स्वभाव से राजपट्ट देखते ही अधिकांश का सिर स्वयं झुक जाता है।]

अशोक—तक्षशिला के नागरिको, राजकुमार अशोक तुम्हारा अतिथि है। आशा है, तुम अतिथि की बात शान्त-भाव से सुनोगे।

(सब लोग चुप रहते हैं)

भाइयो, तुम्हारे नेता ने ठीक ही कहा था। तक्षशिला संसार के विचारों का और संसार की विद्या का केन्द्र है। और तुम लोगों का यह एक महान् गौरव है कि तुम तक्षशिला

के निवासी हो। सीमाप्रान्त की इस महामहिम राजधानी के निवासियो, तुम सदा इस बात को याद रक्खो कि मगध-साम्राज्य के अधिपति महाराजाधिराज सम्राट् बिन्दुसार को सोते-जागते, उठते-बैठते सदैव तुम्हारे ही कल्याण की चिन्ता रहती है। क्या तुम्हें ज्ञात है कि सम्राट् को, मेरे वृद्ध पिता को, तुम्हारे इस आचरण से कितना क्लेश पहुँचा है ? अगर नहीं ज्ञात है, तो मुझसे पूछ देखो। तक्षशिला के निवासियों को आजीवन वह अपनी आदर्श प्रजा समझते रहे हैं। इस गरिमाशाली नगर के निवासियों के सम्बन्ध में वह कहा करते थे कि संसार के सम्मुख दिखाने के लिए मेरे पास यदि कुछ है तो वह तक्षशिला और उसके निवासी ही हैं।

नागरिको, तुम चण्डगिरी को पापी और अत्याचारी कहते हो। परन्तु सोच कर देखो कि सम्राट् के आदेशों और राज्य के विधानों को तोड़ कर क्या तुमने उतना ही बड़ा अपराध नहीं किया ?

नेता—सम्राट् ने चण्डगिरी को पदच्युत क्यों नहीं किया ?

एक नागरिक—चण्डगिरी अत्याचारी है।

दूसरा नागरिक—चण्डगिरी अनाचारी है।

तीसरा नागरिक—तक्षशिला चण्डगिरी का शासन कभी सहन नहीं करेगा।

अशोक—भाइयो, शान्त होकर मेरी बात सुनो। चण्डगिरी कैसा है, इस सम्बन्ध में मैंने कुछ भी नहीं कहा। उसके आचरण का निर्णय सम्राट् करेंगे। परन्तु मैं तुम से पूछता हूँ कि तुमने अपने पितृ-तुल्य सम्राट् की अवज्ञा क्यों

की। तुमने एक क्षण के लिए भी यह बात अपने मस्तिष्क में क्यों जमने दी कि मगध-सम्राज्य में रह कर तुम्हारी स्वाधीनता सुरक्षित नहीं रह सकती। भाइयो, तक्षशिला-नगर के धूल की एक-एक कण मेरे लिए तीर्थ के समान पवित्र है। यह नगर मेरे दादा, महान् चन्द्रगुप्त मौर्य की शिक्षा-भूमि है। इसी नगर में रह कर उन्होंने अपने साम्राज्य की, अपने महान् व्यक्तित्व के विकास की नींव डाली थी। क्या तुम उस महापुरुष को भूल गए! बोलो, बोलो, क्या तुम महान् चन्द्रगुप्त को भूल गए।

सभी नागरिक—(चिल्ला कर) सम्राट् चन्द्रगुप्त का यश अमर रहे!

अशोक—एक बार मिल कर बोलो—मगध-साम्राज्य का यश अमर रहे!

सब नागरिक—मगध-साम्राज्य का यश अमर रहे!

अशोक—शाबाश, भाइयो! तुमने आज इस गरिमा-शालिनी नगरी का सम्मान बचा लिया। एक बार और मिलकर यही नाद दिशा-दिशा में गुँजा दो। संसार समझ जाय कि मगध-साम्राज्य का मस्तिष्क आज भी उसी तरह स्वस्थ और सुरक्षित है।

सब लोग—मगध-साम्राज्य अमर रहे!
राजकुमार अशोक चिरजीवी हों!

नेता—राजकुमार, आप चण्डगिरी का न्याय-विचार कीजिए। मैं उस पर अभियोग उपस्थित करता हूँ।

अशोक—अभियोग उपस्थित करने का स्थान यह नहीं है।

एक नागरिक—तक्षशिला को क्या यह सौभाग्य प्राप्त नहीं हो सकता कि उस पर किसी राजकुमार का ही शासन रहे।

नेता—राजकुमार, तक्षशिला आपको चाहती है।

सब लोग—(चिल्ला कर) राजकुमार अशोक चिरंजीव रहें!

अशोक—अच्छा भाइयो, यही सही। सम्राट् से आदेश लेकर मैं तक्षशिला को ही अपना केन्द्र बनाऊँगा।

(जनता में हर्षध्वनि होती है)

तीसरा दृश्य

स्थान—पाटलीपुत्र के एक सुरम्य मकान का आँगन।

समय—चाँदनी रात का द्वितीय प्रहर।

[कुमारी शीला वीणा बजा रही है। कुछ देर तक इस वाद्य-यन्त्र को चुपचाप बजाते रहने के बाद वह सहसा गाने लगती है।]

गीत

द्वार - निकट देख सजनि ! कौन गीत गाये
कौन देश बसे, पूछ, आज किधर जाये?
शिथिल कण्ठ कौन बात कहे, क्या सुनाये
कोई सुप्त करुण भाव हृदय में छिपाये।
आज इन्दु कर उठाये अवनि ओर आये
बीच खड़ी श्याम रजनि, पलक पथ बिछाये।
दुग्ध-धवल विश्व सकल, व्योम खिल-खिलाये
एक यही बन्धु दीन विकल क्यों दिखाये
किधर अर्घ्य-कुसुम सखी! पथिक फिर न जाये

खोल द्वार जलद, आई दिया मैं जलाये।
अतिथि! चलो भय विहीन, छिपे क्यों लजाये?
आज गृही द्वार खड़ीं अर्चना सजाये।
देख आलि! निकट-कुञ्ज, जिधर वृक्ष छाये
देख दूर विजन पन्थ कोई दीख पाये?
मौन मार्ग, शून्य दिशा, चरण रव न आये?
कौन? किधर लीन? हाय, नयन छलछलाये।

(शीला के पिता दीपवर्धन का प्रवेश)

दीप०—शीला!

शीला—(चौंक कर) ओह, पिता जी, आप हैं!

दीप०—और तुमने क्या समझा बेटी?

शीला—मैं समझी पिता जी हैं!

दीप०—(मुस्करा कर) बेटी, कितनी सुहावनी रात है! दूर से तुम्हारा स्वर सुन कर मुझे ऐसा प्रतीत हुआ, जैसे तुम्हारी माता गा रही हो। मुझे २५ बरस पहले की एक इसी तरह की चाँदनी रात की याद हो आई; जब मुझ से रूठ कर वह ठीक इसी स्थान पर आ बैठी थी, और ठीक इसी लय में, इतनी ही निपुणता के साथ, वह वीणा बजाने लगी थी। बेटी, तुम्हें अपनी माँ की याद है क्या?

शीला—(गम्भीर हो जाती है) पिता जी, मेरी माँ भी तुम्हीं हो। मैं इस दुनिया में और किसी को नहीं जानती।

दीप०—शीला, जानती हो, तुम्हारी माँ तुमसे कितना प्यार करती थीं?

शीला—क्यों नहीं पिता जी! जितना आप मुझ से करते हैं!

दीप०—अभागिनी मातृहीना बच्ची मेरी !

शीला—आज आप इतने अधीर क्यों हो रहे हैं पिताजी ?

दीप०—कुछ नहीं बेटी; यों ही कुछ ख़याल आ गया। आख़िर दिल ही तो है।

शीला—क्या बात ख़याल आ गई पिता जी ?

दीप०—यही कि यदि आज तुम्हारी माँ ज़िन्दा होती तो क्या वह मुझे इस बात के लिए बाधित न करती कि तुम्हारा विवाह कर दिया जाय।

शीला—आज आपको क्या हो रहा है, पिता जी ! ब्याह-शादी की बाते आपको भी इतनी महत्वपूर्ण प्रतीत होती हैं क्या ?

दीप०—हाँ बेटी, तुम ने मेरे प्रश्न का उत्तर तो दिया ही नहीं। बताओ, तुम्हें अपनी माँ की याद तो है न ?

शीला—माँ की ? मैं तो तब बहुत छोटी थी न।

दीप०—उन दिनों तुम्हारा तुतला कर बोलना भी नहीं छूटा था।

शीला—चलो हटो, यह सब मुझे कुछ भी याद नहीं।

दीप०—तुम्हारी माँ सचमुच देवी थी। मुझे कभी-कभी ख़याल हो आता है कि यदि वह ज़िन्दा होती तो तुम्हें देख उसे कितनी प्रसन्नता होती !

(शीला स्थिर भाव से चुपचाप अपने पिता की ओर ताकती रहती है।)

दीप०—मुझे याद है, तुम्हारे सम्बन्ध में वह कहा करती थी, कि मेरी शीला हमारे कुल के गौरव का कारण बनेगी। वह यदि जीवित रह सकती तो देखती कि किस तरह उसकी बेटी आज पाटलीपुत्र का सबसे अधिक सुन्दर रत्न बन गई है।

शीला—आज आपको क्या हो गया है पिता जी !

(आगे बढ़ कर पिता के कन्धे पर अपना मुँह रख देती है ।)

दीप०—ओह, तुम तो रोने लगीं शीला ! अब मैं समझा, तुम्हें अपनी माँ भूली नहीं है ।

शीला—कभी कोई अपनी माता को भी भूल सकता है पिता जी !

दीप०—मगर तुम तो उन दिनों बहुत छोटी थीं ।

शीला—इस से क्या हुआ पिता जी ! अपने जीवन की जिस सबसे पहली और सबसे पवित्र याद को म कीमती निधि के समान अन्दर-ही-अन्दर छिपाए हुए हूँ ; अठारह बरस वीत जाने पर भी, जिसके सम्बन्ध में अचानक सपना देख कर मेरी सम्पूर्ण देह अभी तक पुलकित हो उठती है, उस माता को मैं कभी भूल सकती हूँ ।

दीप०—ओह बेटी, अगर मैं सचमुच तुम्हारी माँ की जगह भी पूरी कर सकता !

शीला—पिता जी, बताइए आप दूध पी चुके या नहीं ?

[दीपवर्धन अभी कोई बहाना सोच ही रहे होते हैं कि शीला झट से रसोईघर की ओर चली जाती है ।]

शीला—(जाते जाते) मैं दूध लेकर अभी आई पिता जी !

दीपवर्धन—(आप ही आप) ओह, मनुष्य कितना असमर्थ है । मैंने बरसों तक इस बात का भारी प्रयत्न किया कि शीला अपने को मातृहीना न समझे । मुझ ही में वह अपनी माँ और बाप दोनों को पा जाय । वह उन दिनों कितनी छोटी, ज़रा-सी ही तो थी । फिर भी मैं अपने उद्योग में सफल न हो सका । ओह, मेरी प्यारी पुत्री के कोमल-से हृदय का यह घाव कितना गहरा है ।

(दूध का पात्र हाथ में लिए हुए शीला का प्रवेश)

शीला—दूध पी लीजिए पिता जी।

दीप०—(पात्र हाथ में लेकर) ओह, जो बात कहने आया था, वह तो भूल ही गया। शीला, अब के राजप्रासाद के होलिकोत्सव में सम्मिलित होने जाओगी ? वहाँ से निमन्त्रण आया है।

शीला—नहीं, पिता जी, मैं नहीं जाऊँगी।

दीप०—यह क्या बेटी। इस उम्र में इतनी एकान्तप्रियता अच्छी नहीं होती।

शीला—इसमें एकान्तप्रियता की कौन-सी बात हुई पिताजी ?

दीप०—और नहीं तो क्या। तुम किसी भी समारोह में जाना पसन्द नहीं करतीं।

(दीपवर्धन का मुँह उदास-सा दिखाई देने लगता है।)

शीला—(पिता की चिन्ता हटाने के लिए वह खुल कर मुस्करा उठती है) वाह पिता जी, मैं होलिकोत्सव में क्यों नहीं जाऊँगी ? आपने भी झट-से मेरी बात पर विश्वास कर लिया। आप बड़े भोले हैं पिता जी !

दीप०—अच्छा बेटी, मुझे ज़रा वीणा बजाकर तो सुनाओ। कोई ऐसी लय, जो मेरे हृदय के उफ़ान को आँसुओं के रूप में गला कर आँखों की राह बाहर कर दे।

[शीला बैठ जाती है और अपने सधे हुए हाथों की सहायता से वीणा में से एक बहुत ही करुण और शान्त स्वर निकालने लगती है।]

चौथा दृश्य

स्थान—पाटलीपुत्र के नगर-भवन के निकट का बाज़ार।

समय—प्रभात।

(नगर में होलिकोत्सव मनाया जा रहा है)

[बाज़ार को तोरण और पताकाओं से खूब सजाया गया है। सैनिकों का एक बड़ा जुलूस निकल रहा है। दोनों ओर नागरिकों की भीड़ है। सब लोग सुनियन्त्रित हैं। व्यर्थ का शोरगुल कहीं पर नहीं है। क्रमश: सम्राट् का रथ बाज़ार में आ पहुँचता है। नागरिकों में मानों उत्साह का तूफ़ान आ जाता है।]

नागरिक—(तुमुल ध्वनि से) सम्राट् चिरजीवी हों !

[सम्राट् सिर झुका-झुकाकर जनता के इस अभिनन्दन का उत्तर देते जाते हैं। क्रमश: सम्राट् की सवारी पाटलीपुत्र के नगर-भवन के निकट आकर रुक जाती है। नगर-भवन के सन्मुख चौड़ी सीढ़ियाँ हैं। उन पर लाल कपड़ा बिछा हुआ है। सम्राट् रथ से उतर कर इन सीढ़ियों से होते हुए सिंहासन पर जा पहुँचते हैं। सब पंक्तिबद्ध सैनिक उन्हें नमस्कार करते हैं। इसके बाद सम्राट् सैनिकों और जनता को सम्बोधित करते हैं।]

सम्राट्—मगध-साम्राज्य की इस जगत्प्रसिद्ध राजधानी के नागरिको, आज का यह होलिकोत्सव तुम्हारे लिए शुभ हो।

नागरिक—(तुमुल स्वर में) मगध-साम्राज्य का यश अक्षय हो ! सम्राट् चिरजीवी हों !!

बिन्दुसार—पुत्रो, होली के इस हर्षोत्सव में आज मैं अनुभव कर रहा हूँ कि मेरा हृदय प्रफुल्लित नहीं है। मैं अब बूढ़ा हो गया हूँ। मेरी शक्तियाँ क्षीण पड़ गई हैं। कह नहीं सकता कि और कब तक मैं आपकी सेवा कर सकूँगा, इसी

से मैं चाहता हूँ कि आज इस शुभ अवसर पर युवराज सुमन को साम्राज्य के प्रधान सहकारी के पद पर नियुक्त कर दूँ।

(जनता में हर्षध्वनि होती है।)

[इस के बाद बिन्दुसार सुमन को निकट बुला कर उसके माथे पर तिलक लगाते हैं। सुमन झुक कर अपने पिता को नमस्कार करते हैं।]

जनता—(ऊँचे स्वर में)—

सम्राट् चिरजीवी हों !

युवराज सुमन चिरजीवी हों !

(सम्राट् की सवारी धीरे-धीरे आगे बढ़ जाती है।)

पाँचवाँ दृश्य

स्थान—पाटलीपुत्र के राजमहलों में गंगा नदी के तट पर युवराज का निवास-स्थान।

समय—सायंकाल।

[युवराज सुमन अकेले खड़े हैं, उनके सम्मुख राजमहल का संगमरमर से जड़ा आँगन विविध रंगों से भीग कर बरसात के सायंकालीन आकाश के समान दिखाई दे रहा है। चारों ओर से सुगन्ध की लपटें-सी उठ रही हैं। मालूम होता है, थोड़ी ही देर पहले यहाँ सुगन्ध और रंगों की वर्षा की गई थी। युवराज एकटक दृष्टि से इस दृश्य को देख रहे हैं।]

सुमन—नारी सौन्दर्य, सरलता और कोमलता का मूर्तिमान स्वरूप है। परन्तु मेरी प्रकृति जैसे इस चीज़ से घबराती है। आज इन लड़कियों ने मिनटों में ही मुझे कितना तंग कर डाला! मैं भाग कर छिप रहने के अतिरिक्त और कुछ नहीं कर सका। मेरे

सम्बन्ध में नगर की ये सब कुलीन कुमारियाँ न-जाने क्या सोचती होंगी। आज अगर अशोक यहाँ होता! वह कितना चंचल, क्रियाशील और निपुण है। वह एक साथ अनेकों को खुश रख सकता है। आज वह होता, तो अकेला ही इन सबको तंग कर देने के लिये काफ़ी था। और मैं? अच्छा-भला हँसता-खेलता व्यक्ति भी मेरे पास कुछ ही देर बैठ कर गम्भीरता का मनहूस रूप धारण कर लेता है। अपनी-अपनी तबीयत ही तो है। चलूँ, चलकर देखूँ कि ये सब कुमारियाँ मेरे सामान के साथ क्या-क्या उत्पात कर गई हैं।

[सुमन आगे बढ़ कर महल के एक कमरे में पहुँचते हैं। वहाँ वह देखते हैं कि कमरे का सारा सामान उलटा करके रक्खा हुआ है। यहाँ तक कि कालीन भी उलटी ही बिछी है। कमरे के बीचोंबीच एक उलटी शैया पर सुमन का एक बड़ा चित्र रक्खा हुआ है, इस चित्र के नीचे बड़े सुन्दर अक्षरों में लिखा है—"चुप रहो, मैं सन्नाटा चाहता हूँ!" इसी तरह दो तीन कमरों का चक्कर लगा कर युवराज अपने व्यक्तिगत आलेख्य-भवन के निकट पहुँचते हैं।]

सुमन—फिर भी सोचता हूँ कि सस्ते में ही छूट गया। मेरी मज़ाक उड़ानेवाला तो यहाँ कोई है ही नहीं। अशोक तक्षशिला में है और तिष्य तथा चित्रा कामरूप में हैं। पिता जी तो इन बातों में दिलचस्पी लेते ही नहीं। ख़ैर, जाने दो। ज़रा बैठ कर अब आराम करना चाहिए।

[आलेख्य-भवन का दरवाज़ा धीरे से खोलकर सुमन अन्दर चले जाते हैं और अपने गद्देदार उपवेशन के निकट पहुँचकर वहाँ किसी को सोया देखकर वह चौंक उठते हैं।]

सुमन—हैं ! यह क्या ! यह कौन है ? (ज़रा अच्छी तरह देखकर) यह तो कोई नारी है ! मेरे ख़ास कमरे में एक महिला इस तरह निश्चिन्त भाव से सो रही है ! आश्चर्य है !

[सुमन दबे पाँव धीरे-धीरे लौटना शुरू करते हैं। उनके चेहरे पर लज्जा की गहरी छाप दिखाई देने लगती है। दरवाजे के निकट पहुँचते न पहुँचते अचानक उनका हाथ एक तिपाई से जा टकराता है। तिपाई पर पड़ा चाँदी का बड़ा-सा फूलदान अपने अन्दर रक्खे हुए फूलों के बोझ के कारण पहले ही टेढ़ा-सा हो रहा था, इस धक्के से वह उलट कर नीचे गिर पड़ता है और कमरे भर में खन्न-सी आवाज़ गूँज जाती है। युवराज सहसा घबरा उठते हैं।]

सुमन—(घबराहट में) उफ़ !

[युवराज के जी में आता है कि वह भाग कर कमरे से बाहर निकल जायँ। परन्तु उन्हें दिखाई दे जाता है कि वह महिला जाग कर उठ बैठी है। इस दशा में वहाँ से भाग जाना उन्हें उचित प्रतीत नहीं होता। वह चुपचाप खड़े हो जाते हैं। सहसा वह कुमारी भी खड़ी हो जाती है। उसके चेहरे पर गहरी लज्जा के भाव दिखाई दे रहे हैं।]

सुमन—(साहस करके) क्षमा कीजिए मुझे मालूम नहीं था कि इस कमरे में कोई है।

कुमारी—जी !

सुमन—(एक क्षण तक तो सुमन को कुछ भी नहीं सूझता कि वह क्या कहे, उसके बाद ज़रा सँभल कर) कहिए, आपको कहाँ पहुँचाने का प्रबन्ध करवा दूँ ?

कुमारी—मैं आचार्य दीपवर्धन के घर जाऊँगी।

सुमन—आचार्य दीपवर्धन के घर !

कुमारी—जी हाँ, वही मेरे पिता हैं।

सुमन—मेरा यह सौभाग्य है कि मैं पाटलीपुत्र के गौरव आचार्य दीपवर्धन की एकमात्र कन्या के सम्मुख खड़ा हूँ।

कुमारी—यह सब शोभा की शरारत है युवराज! वह मुझे आपकी बहन के कमरे में सोता हुआ छोड़ कर अपने आप खिसक गई!

सुमन—मेरी बहन के कमरे में! आप यह क्या कह रही है! मेरी बहन तो राजकुमार तिष्य के साथ कामरूप गई हुई है।

कुमारी—मगर यह कमरा तो उन्हीं का आलेख्य भवन है न?

सुमन—जी नहीं, यह मेरा व्यक्तिगत आलेख्य भवन है। मगर यह तो बिलकुल मामूली बात है।

कुमारी—(बहुत अधिक लज्जित-सी होकर) मेरी तबीयत कुछ ख़राब थी। मैं लेटना चाहती थी। शोभा ने मुझसे कहा कि इस कमरे में लेट जाओ; जाते हुए मैं तुम्हें अपने साथ लेती जाऊँगी। थोड़ी ही देर में मुझे नींद आ गई। और उधर शोभा स्वयं तो चली गई, परन्तु मुझे साथ नहीं ले गई। क्षमा कीजिएगा।

सुमन—यह तो बिलकुल सामान्य-सी बात है कुमारी।

(सुमन ताली बजाता है। एक कर्मचारी का प्रवेश।)

कर्मचारी—आज्ञा कीजिए।

सुमन—मेरा रथ ले आओ।

कर्म०—अभी आया श्रीमन्!

(चला जाता है।)

(युवराज को फिर से कुछ नहीं सूझता कि वह इस अपरिचिता कुमारी से क्या बातचीत करें। अनेक क्षणों तक दोनों चुपचाप खड़े रहते हैं। दोनों की लज्जा बढ़ती जाती है। तब सहसा सुमन कहता है)

सुमन—क्या मैं आपका नाम जान सकता हूँ ?

कुमारी—मेरा नाम भद्रशीला है। (थोड़े-से उत्साह के साथ) परन्तु इस नाम में से मैंने 'भद्र' शब्द का बहिष्कार कर रक्खा है।

सुमन—धन्यवाद ! आइए, गंगा-तट पर खड़े होकर राजमहलों के सूर्यास्त का दृश्य देखिए।

शीला—चलिए !

[दोनों बाहर आकर गंगा तट पर खड़े हो जाते हैं। साँझ के अस्त हो रहे सूर्य की गुलाबी किरणें शीला के सुन्दर चेहरे पर पड़ती हैं]

सुमन—आप राजमहलों में पहले भी कभी आई हैं ?

शीला—जी नहीं। बचपन के बाद से मैंने कभी राजमहलों में प्रवेश नहीं किया। (शरीर-रक्षक का प्रवेश)

शरीर०—महाराज, रथ तैयार है।

सुमन—अच्छा, जाओ। (शरीर-रक्षक चला जाता है)

सुमन—आइए; मैं आपको रथ तक पहुँचा आऊँ।

शीला—मैं आपकी आभारी हूँ।

सुमन—मैं कृतार्थ हुआ। (दोनों बाहर जाते हैं।)

छठा दृश्य

स्थान—कामरूप का एक जंगल।

समय—मध्याह्न।

[राजकुमार तिष्य जंगल में शिकार खेलने आए हैं। उनका मन्त्री, जो एक निपुण शिकारी भी है, साथ है। पसीने से लथपथ राज-

कुमार अपना घोड़ा पकड़े खड़े हैं। मन्त्री अभी घोड़े पर है।]

राजकुमार—ओह, कितनी गरमी है !

मन्त्री—शिकार का आनन्द ही जाता रहा। प्रातःकाल अकाश में इतने बादल दिखाई दे रहे थे कि आज का सारा दिन सुहावना रहने की आशा थी।

राज०—सूरज कितनी प्रखरता के साथ तप रहा है।

मन्त्री—आप पसीने से भीग रहे हैं।

राज०—मेरी इच्छा यहाँ थोड़ी देर आराम करने की है। तुम भी घोड़े से उतर आओ।

मन्त्री—जैसी आपकी आज्ञा। (घोड़े से उतर कर वह दोनों घोड़ों को एक पेड़ के साथ बांध देता है। तब वे समीप के एक पेड़ की घनी छाया में बैठ जाते हैं।)

राज०—ओह, इतनी दूर तक निकल आए, और कोई शिकार हाथ नहीं लगा।

मन्त्री—राजकुमार वह बारहसिंगा कितना सुन्दर था। अगर हम उसे पकड़ पाते !

राज०—जो हो गया, सो हो गया। जाने दो। बीती बात मैं कभी नहीं सोचता।

मन्त्री—समझदार लोग सदा भविष्य के सम्बन्ध में ही सोचा करते हैं।

राज०—नहीं, मैं भविष्य की बात भी नहीं सोचता। जो होगा, देख लिया जायगा। जो कुछ बाद में होना है, उसके लिए अभी से चिन्ता और सिरदर्दी क्यों की जाय।

मन्त्री—हाँ जी, सच पूछिये तो मनुष्य को अपने वर्तमान पर पूरा नियन्त्रण रखना चाहिए। वर्तमान वश में हो, तो

न तो भूतकाल की स्मृति सताती है, और न भविष्य के बिगड़ने का ही भय रहता है।

राज०—नहीं भाई साहब। तुमने मुझे ग़लत समझा। मैं वर्तमान की भी चिन्ता नहीं करता। मैं अपनी ओर से कभी कुछ करने का प्रयत्न नहीं करता। जो कुछ हो। जाता है, सिर्फ़ उसी से अपने जी को ख़ुश रखने का प्रयत्न करता हूँ।

मन्त्री—जी! और हो भी क्या सकता है।

राज०—सचमुच और कुछ नहीं हो सकता? (खिलखिला कर हँस पड़ता है।) ख़ैर, इन बातों को जाने दो। मुझे बड़ी प्यास मालूम हो रही है।

मन्त्री—पानी का बरतन तो हम लोगों के साथ है, मगर उसका पानी गरम होगा। यहाँ आसपास कोई झरना हो, तो वहाँ से पानी ले आऊँ।

राज०—तुम बड़े अच्छे आदमी हो मन्त्री! ज़रा तकलीफ़ तो करो।

[मन्त्री बरतन लेकर पानी की तलाश में जाता है और राजकुमार अपनी बाँसुरी निकाल कर बजाने लगते हैं। थोड़ी ही देर में वह देखते हैं कि बहुत घबराई हुई दशा में मन्त्री महाशय बेतहाशा वापस दौड़ चले आ रहे हैं।]

राज०—(उछल कर खड़े हो जाने के साथ ही साथ) क्या बात है?

[मन्त्री बोलने का प्रयत्न करता है, परन्तु भय के कारण उसके मुँह से आवाज़ ही नहीं निकलती।]

राज०—कुछ बोलोगे भी, या बेवकूफ़ों की तरह ताकते ही रहोगे। क्या है, शेर?

मन्त्री—(सिर हिला कर) नहीं।

राज०—तो और कौन-सी ख़तरे की बात है? भालू है क्या?

मन्त्री—नहीं।

राज०—(झुँझला कर) तो आख़िर है क्या?

मन्त्री—(बड़े भयपूर्ण स्वर में) कापालिक!

राज०—कापालिक?

(राजकुमार भी घबरा जाते हैं, मगर मन्त्री की तरह वह बदहवास नहीं हो जाते)

मन्त्री—जी हाँ।

राज०—किस जगह?

मन्त्री—यहाँ से थोड़ी ही दूर पर। उत्तर दिशा में।

राज०—वह कर क्या रहा है?

मन्त्री—एक सड़ी-गली लाश पर बैठ कर वह होम कर रहा है। नरमुण्डों की माला उनके गले में है।

राज०—उसने तुम्हें देखा?

मन्त्री—ज़रा धीरे-धीरे बोलने की कृपा कीजिए! (बहुत ही धीरे से) नहीं जी, उसने मुझे नहीं देखा।

राज०—उसके पास चलोगे?

मन्त्री—(घबराकर) कापालिक के पास? नहीं महाराज! मैं अभी ज़िन्दा रहना चाहता हूँ।

राज०—तुम्हारी इच्छा न हो तो मैं तुम्हें बाधित नहीं करूँगा। मगर मैं वहाँ अवश्य जाऊँगा।

मन्त्री—आप कापालिक से भी नहीं डरते?

राज०—डरता क्यों नहीं? मगर तुम्हारी तरह से नहीं। बचपन से इन कापालिकों के भविष्य-ज्ञान के सम्बन्ध

में अजीब-अजीब तरह की बातें सुनता आ रहा हूँ। आज एक कापालिक को देखने का यह मौका व्यर्थ कैसे जाने दूँ ?

मन्त्री—सम्राट् के नाम पर मैं आपसे अनुरोध करता हूँ कि आप वहाँ न जाइये।

राज०—तुम्हें चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है। तुम यहीं, इन घोड़ों के पास ठहरो। मैं अभी वापस आता हूँ।

(मन्त्री के मना करते रहने पर भी राजकुमार उस ओर चले जाते हैं।)

(दृश्य बदलता है)

[एक लाश पर कापालिक पद्मासन मुद्रा में बैठा है। चारों ओर नरमुण्ड तथा हड्डियाँ बिखरी पड़ी हैं। तीव्र दुर्गन्ध आ रही है। फिर भी राजकुमार वहाँ धैर्यपूर्वक खड़े हुए हैं। उन्होंने देखा कि कापालिक अग्नि में खून और मज्जा की आहुतियाँ दे रहा है। दोपहर की कड़कड़ाती धूप में भी उसे गर्मी प्रतीत नहीं होती।]

कापालिक—(राजकुमार की ओर देख कर) तुम यहाँ कैसे आए ?

राज०—शिकार के लिए।

कापा०—तुम बिन्दुसार के छोटे पुत्र हो न ?

राज०—जी हाँ।

कापा०—तुम्हारा साथी कहाँ है ?

राज०—वह यहाँ आने से डरता है।

कापा०—(खिलखिला कर हँसने के बाद) उसका डरना ही ठीक है !

राज०—क्यों श्रीमन् !

कापा०—तुम सचमुच सौभाग्यशाली हो। यदि तुम इस

व्यवधान काल में न पहुँच कर अब से एक घड़ी पहले यहाँ पहुँच गए होते, अथवा आधी घड़ी बाद आते तो मैं तुम दोनों का वध करके इसी होम में आहुति दे डालता। (विकट हँसी)

राजा०—आपकी कृपा चाहिए श्रीमन्।

कापा०—कहो, क्या चाहते हो ?

राज०—आपका आशीर्वाद।

कापा०—मेरा आशीर्वाद ? आशीर्वाद देना मेरा काम नहीं। यह काम सन्तों का है। कुछ पूछना चाहते हो ?

राज०—जी हाँ।

कापा०—पूछो।

राज०—मेरे बड़े भाई का विवाह कब होगा ?

कापा०—सुमन का विवाह ? उसका विवाह नहीं होगा।

राज०—(घबरा कर) यह क्यों श्रीमन् !

कापा०—यह मत पूछो।

राज०—आप भविष्य बता सकते हैं ?

कापा०—अवश्य।

राज०- कुछ बताने की कृपा करेंगे।

कापा०—कुछ ही दिनों में तुम्हारे पिता का देहान्त हो जायगा और उसके बाद पाटलीपुत्र में खून की नदियाँ बहेंगी।

राज०—(बहुत अधिक भय के साथ) मेरे देवतास्वरूप बड़े भाई पर तो कोई आपत्ति नहीं आएगी ?

कापा०—यह मत पूछो।

(राजकुमार तिष्य भय से काँपने लगते हैं।)

कापा०—बस, अब चले जाओ। तुमने मेरा यह स्थान

देख लिया है, इसलिए मैं अपनी शेष तपस्या कहीं और जाकर करूँगा। यह तुम्हारा सचमुच सौभाग्य था कि तुम अवध्य घड़ी में मेरे पास पहुँचे।

(राजकुमार प्रणाम करके चल देते हैं)

कापा—एक बात सुनो। तुमने अपने सम्बन्ध में तो कुछ पूछा ही नहीं।

राज०– कहिए।

कापा० तुम जहाँ रहोगे, सदा प्रसन्न रहोगे।

राज०—और कुछ ?

कापा०—आज से ६० दिन के बाद तुम्हारे मन्त्री का देहान्त हो जायगा। बस, अब चले जाओ।

[राजकुमार उदास भाव से अपने घोड़ों की ओर लौट चलते हैं। कापालिक होम में न जाने किस चीज की पूर्णाहुति करता है, जिससे आग में से चटकती हुई बड़ी-सी नीली ज्वाला निकलती है। इसके बाद कापालिक इतनी जोर से खिलखिला कर हँस पड़ता है कि उसकी वह भयंकर हँसी पर्वत की सम्पूर्ण उपत्यका में गूँज जाती है।]

सातवाँ दृश्य

स्थान—पाटलीपुत्र का नगर-भवन।

समय– मध्याह्नपूर्व।

[नगर-भवन के आंगन में युवराज के वाग्दान की खुशियाँ मनाई जा रही हैं और वहाँ सैकड़ों नागरिक जमा हैं। आचार्य दीपवर्धन भी इसी मजमें में बैठे हैं। भवन की छत पर, एक झरोखे में से शीला इस भीड़-भाड़ की ओर देख रही है। वह बिलकुल अकेली ऐसी जगह पर बैठी है, जहाँ से वह सबको देख सकती है, परन्तु उसे कोई नहीं देख सकता।]

शीला—मुझे यह क्या हो रहा है। मेरी सम्पूर्ण चेतना को जैसे कोई हरता चला जा रहा है। नागरिकों के ये हर्षनाद, ये निरन्तर मंगल-वाद्य, यह सजावट, यह चहल-पहल—ये सब मुझे उन्मत्त-सी बना रही हैं। ऐसा प्रतीत होता है, जैसे मैं आपे में नहीं हूँ। मैं अपनी सुध-बुध खो रही हूँ। मगर इस तरह सुध-बुध खोने में भी कितना आनन्द है। ओह, कितना बड़ा आनन्द है। सभी ओर पूर्णता-ही-पूर्णता प्रतीत हो रही है। हे प्रभो, तेरी सृष्टि में इतना सुख भरा हुआ है! सुख की यह कैसी मोहकारिणी अनुभूति है!

[सहसा सामने के राजमार्ग पर मंगलवाद्य बजाते हुए नागरिकों की एक टोली दिखाई देती है। शीला प्रसन्नता से गद्गद् हो रहे हृदय के साथ उस टोली की ओर देखती रह जाती है। क्रमशः वह टोली दूर चली जाती है।]

शीला—(फिर से सोचने लगती है) मेरे पिता जी आज कितने प्रसन्न हैं। वह किस तरह सभी के साथ खूब हँस-हँस कर बातें कर रहे हैं। मैंने आज तक उन्हें इतना प्रसन्न कभी नहीं देखा।...मैं सचमुच कितनी सौभाग्य-शालिनी हूँ। मेरी सहेलियाँ कहती हैं कि तुम इस मगध महा-साम्राज्य की भावी सम्राज्ञी हो। ओह, सचमुच यह कितना बड़ा सन्मान है। बचपन में राजा रानी की कहानियाँ सुन कर कितनी ही बार रानी बनने को जी चाहा है। मगर कभी यह स्वप्न में भी नहीं सोचा था कि मैं किसी दिन अनायास ही इस महासाम्राज्य की सम्राज्ञी बन सकूँगी।

और वे? यह सम्पूर्ण साम्राज्य उनके व्यक्तित्व के सम्मुख नितान्त तुच्छ है! आहा, मैं सचमुच अनन्त सौभाग्य-

शालिनी हूँ। प्रभो, मेरा यह अतुलनीय सुख, मेरा यह महासौभाग्य क्या तुम बनाए रख सकोगे ? वह कितने महान् हैं और मैं उनकी तुलना में कितनी तुच्छ, कितनी नगण्य हूँ। मेरी सखियाँ कहती हैं कि तुम्हारे समान रूपवती कन्या सारे पाटलीपुत्र में दूसरी नहीं है। मगर उनकी तुलना में मेरा यह सौन्दर्य किसी भी मूल्य का नहीं है। मैं चाहती हूँ कि मैं इसकी अपेक्षा भी सैकड़ों गुणा अधिक सुन्दरी होती और अपना वह सारा सौन्दर्य अपने इस देवता के चरणों पर न्योछावर कर देती। मेरे देवता ! ओह, क्या तुम सचमुच मेरे हो ! प्रभो, यह कितना अपार हर्ष है !

[सहसा आचार्य दीपवर्धन का प्रवेश। वह चुपचाप पीछे से आकर शीला की आँखें बन्द कर लेते हैं।]

शीला—(चौंक कर) पिता जी !

दीप०—उँह, इतनी जल्दी पहचान लिया ! सब मज़ा किरकिरा हो गया। अच्छा तो जनाब, यहाँ अकेले में क्या हो रहा है ?

शीला—मेरी सहेलियाँ मुझे तंग करती थीं, छेड़ती थीं, इससे मैं यहाँ आकर बैठ गई।

दीप०—अभी से तुमने सम्राज्ञियों के ठाठ-बाठ शुरू कर दिए। देखो न, द्वार पर चार शरीर-रक्षिकाएँ खड़ी पहरा दे रही हैं। किसी को अन्दर नहीं आने देतीं।

शीला—फिर आप यहाँ कैसे आगए ?

दीप०—आखिर मैं भी तो सम्राज्ञी का पिता हूँ।

शीला—हटिए, मैं आपके साथ नहीं बोलूँगी।

दीप०—वाह, वाह, अभी से यह हाल है।

शीला—(अपने पिता के कन्धों से लिपट कर) आप तो मुझे नहीं भुला देंगे, पिता जी !

दीप०—(दुखित से स्वर में) यह क्या कहती हो बेटी ?

शीला—पिता जी ! (दोनों हाथों से मुँह छिपा लेती है) मैं आप से कभी जुदा नहीं हो सकूँगी !

दीप०—पिता का हृदय तुम जानती ही हो शीला। फिर मैं तो तुम्हारी माता की जगह भी था। तुम्हें छोड़कर मेरे पास और है ही क्या? जानती हो बेटी, मेरे हृदय में दो विभिन्न भावों के तूफ़ान-से उठ खड़े हुए हैं। एक अनुभूति आग की लपटों के समान गरम है और दूसरी वर्षा की बौछार के समान शीतल। हे विधाता, पिता को तुमने यह कैसा हृदय दिया है। (क्षण-भर के लिए रुक कर) अपने इस बूढ़े बाप को भुला तो नहीं दोगी बेटी ?

शीला—(पिता के गले में हाथ डालकर) पिता जी !

दीप०—अच्छा शीला, एक बात का जवाब मुझे सच-सच देना। युवराज को तुम पसन्द करती हो ?

शीला—यह बात भी कहने की आवश्यकता है पिता जी !

दीप०—तो बस बेटी, मैं समझता हूँ कि मेरा जन्म सफल हो गया। हे ईश्वर, यह कितना तीव्र सुख है (प्रायः साथ ही साथ) और सन्तान-वियोग की यह कैसी तीव्र-सी जलन है !

[इसी समय की ५, ६ सहेलियाँ वहाँ आ पहुँचती हैं। चहल-पहल मच जाती है।]

पटाक्षेप

दूसरा अंक

पहला दृश्य

स्थान—वैशाली प्रान्त में आचार्य उपगुप्त का आश्रम।

समय—प्रभात।

[कुछ बौद्ध-भिक्षु गा रहे हैं, एक अन्धा बालक भी इन भिक्षुओं में है। आचार्य उपगुप्त शान्त भाव से यह संगीत सुन रहे हैं।]

गीत

खोल बन्धु ! हृदय-द्वार, प्रेम किरण आई,
आज स्वर्ग सदृश भुवन दिव्य ज्योति छाई।
चिर-प्रबुद्ध शक्ति एक ज्ञान दीप लाई,
गमन-पंथ देख मनुज; देख कूप खाई।
द्वेष दम्भ निरत हाय, आयु सब गँवाई,
देख तनिक दया दान—प्रेम की निकाई।
व्यर्थ विषम जग-प्रपंच करो कुछ भलाई,
कौन ऊँच जगत बीच, नीच कौन भाई,
मिटी मोह निशा, आज उषा मुसकिराई
कनक-रुचिर पूर्व लोक प्रकृति जगमगाई।
धन्य शाक्य मुनि उदार दया जिन्हें आई
प्रेम-करुणा-शान्तिमयी त्रिपथगा बहाई।
स्नान करो तीर्थ सलिल हे अजान भाई !
मिटें दुःख ताप त्रिविध हटे कलुष-काई।

उपगुप्त—(अन्धे बालक से) मेरे निकट आओ बेटा !

(बालक आचार्य उपगुप्त के समीप ले आया जाता है)

उपगुप्त—वत्स, तुम्हारा यहाँ जी लगा या नहीं ?

बालक—इतना सुख तो मुझे आजीवन कभी नहीं मिला भगवन् !

उपगुप्त—तुम्हारा स्वर बड़ा मधुर है। संगीत का अभ्यास करोगे ?

बालक—जैसे आपकी आज्ञा पिताजी !

उपगुप्त—तुम्हें अपने माँ-बाप की याद है ?

बालक—मैं अनाथ हूँ भगवन्। अपनी माता की मुझे याद है, परन्तु उनसे बिछुड़े भी अब बहुत समय हो गया।

उपगुप्त—(बालक के सिर पर हाथ रख कर) इस आश्रम को अपना घर समझो और हम सब को अपना बन्धु-बान्धव।

(एक भिक्षु का प्रवेश)

भिक्षु—(प्रणाम करके) भगवन्, पुष्पपुर के बौद्ध-विहार से संघस्थविर का दूत आया है।

उपगुप्त—पुष्पपुर से ? पुष्पपुर तो यहाँ से करीब ८०० कोस होगा। पुष्पपुर से दूत आया है ?

भिक्षु—जी हाँ, श्रीमन् ! और वह इसी समय आपके दर्शन करना चाहता है।

उपगुप्त—उन्हें सम्मान के साथ यहाँ ले आओ। मगर ठहरो, मैं स्वयं चल कर उनका स्वागत करता हूँ।

(भिक्षु के साथ उपगुप्त का प्रस्थान)

एक गायक—(अन्धे बालक से) यह तुम्हारा महान् सौभाग्य है कि आचार्य की तुम पर कृपा है। तुम्हारा जन्म सफल हो गया !

दूसरा गायक—आचार्य की कृपा किस पर नहीं है ?

प० गा०—मगर तुम शायद इस अन्धे बालक की कहानी नहीं जानते। यह बे-माँ-बाप का बालक समीप के किसी गाँव में भीख माँग कर अपना निर्वाह किया करता था, कुछ ही दिन पहले की बात है कि इसे अचानक चेचक निकल आई। किसी ग्रामवासी ने इसकी खोज-खबर नहीं ली ! तब आचार्य जी इसके रोगी देह को स्वयं अपने कन्धों पर उठा कर आश्रम में ले आए। यहाँ उन्होंने इसकी चिकित्सा में दिन-रात एक कर दिया। तब जाकर यह बालक बच पाया है। नहीं तो सब वैद्य जवाब दे ही चुके थे। चेचक से इसकी आँखें जाती रहीं, परन्तु इसका जीवन बच गया।

[सहसा उस बालक की अन्धी आँखों में कृतज्ञता के दो आँसू चमक आते हैं। इसी समय आचार्य उपगुप्त पुष्पपुर के दूत के साथ वहाँ प्रवेश करते हैं। बालक की आँखों में आँसू देख कर वह बड़े स्नेह के साथ उसके सिर पर हाथ रख कर पूछते हैं]

उपगुप्त—बेटा; यह क्या ? तुम्हारी आँखों में आँसू क्यों भर आए ?

बालक—(आचार्य के चरणों पर सिर झुका कर) कुछ नहीं पिताजी !

उपगुप्त—अच्छा पुत्रो, तुम लोग अब जाओ।

(सब का प्रस्थान)

उपगुप्त—आपका साहस धन्य है।

दूत—यह सब आपके आशीर्वाद का फल है।

उपगुप्त—मार्ग में कोई कष्ट तो नहीं हुआ ?

दूत—जी नहीं, कोई कष्ट नहीं हुआ।

उपगुप्त - स्थविर महोदय ने क्या सन्देश भेजा है, यह मैं जान सकता हूँ ?

दूत—वह सन्देश तो आप ही के लिए है भगवन् !

उपगुप्त—आप कोई चिट्ठी लाए हैं ?

दूत—जी नहीं, स्थविर महोदय ने चिठ्ठी लिख कर भेजना सुरक्षित नहीं समझा, कुछ ऐसी ही बात थी। हाँ, विश्वासपात्रता सिद्ध करने के लिए यह पट्ट मैं अपने साथ लाया हूँ।

(पट्ट दिखाता है)

उपगुप्त—मैं जानता हूँ कि आप विश्वासपात्र हैं। कहिए, क्या बात है।

दूत—भगवन्, पुष्पपुर का क्षत्रप बौद्ध-संघ पर भयंकर अत्याचार कर रहा है। सम्राट् की आज्ञा के प्रतिकूल हम लोगों के साथ वहाँ शत्रुओं के समान व्यवहार किया जाता है।

उपगुप्त—तुमने पाटलीपुत्र तक अपनी शिकायत नहीं पहुँचाई ?

दूत—क्यों नहीं भगवन्, परन्तु हमारी कहीं सुनवाई नहीं होती। क्षत्रप पाटलीपुत्र में प्रति सप्ताह अपने प्रान्त के जो समाचार भेजता है, उनमें लिख देता है कि बौद्ध-संघ विद्रोहियों की संस्था है। इन लोगों में चोर, डाकू और

छिपे अपराधियों का प्राधान्य है। इस पर भी सिर्फ सम्राट् के भय से ही वह हमारे केन्द्रीय बौद्ध-संघ से किसी तरह की कैफ़ियत अभी तक नहीं ले सका। परन्तु इसका यह परिणाम अवश्य हुआ है कि हम लोगों की कहीं सुनवाई नहीं होती।

उपगुप्त—संघ-स्थविर का क्या विचार है ?

दूत—(कुछ घबरा कर) यही बात तो वास्तव में गोपनीय है आचार्य !

उपगुप्त—घबराओ नहीं। यहाँ और कोई तुम्हारी बात नहीं सुन रहा।

दूत—(धीरे-धीरे) उनका विचार है कि जब हमें विद्रोही समझा ही जा रहा है, तो क्यों न हम सचमुच विद्रोह का झण्डा खड़ा कर ही दें। इस राज्य से सुशासन प्राप्त करने का यही एक उपाय है। तक्षशिलावालों ने विद्रोह किया था, परिणाम यह हुआ कि आज तक्षशिला साम्राज्य का सबसे अधिक सुशासित और सुखी प्रान्त बना हुआ है। हम लोग भी विद्रोह करेंगे। जो कुछ होगा, देखा जायगा।

उपगुप्त—तो मेरे पास किस उद्देश्य से आए हो ?

दूत—आचार्य, आप बौद्ध-धर्म के महा-नायक हैं। आपकी अनुमति और सहायता के बिना हम लोग यह दुस्साध्य कार्य कैसे कर सकते हैं ?

उपगुप्त—देखो भाई, मेरी राय में तो इससे बढ़ कर बुरा काम दूसरा हो ही नहीं सकता ?

दूत—(चौंक कर) यह आप क्या कहते हैं भगवन् !

उपगुप्त—मुझे आश्चर्य है कि स्थविर महोदय को यह बात सूझी ही किस तरह; और उससे भी बढ़कर आश्चर्य

इस बात का है कि इस कार्य में मुझसे सहायता प्राप्त करने की आशा उन्हें कैसे हुई ?

दूत—फिर आपकी क्या राय है आचार्य ?

उपगुप्त—मेरी तो एक ही राय है। आप लोगों को भगवान् तथागत के आदेशों का पालन चाहिए।

दूत—वह क्या ?

उपगुप्त—वह यही कि लड़ना-भिड़ना भिक्षुओं का काम नहीं है। यह काम नागरिकों का है। भिक्षु का कर्तव्य है कि वह कभी किसी भी दशा में किसी से नाराज़ न हो। जिन परिस्थितियों में उसे रक्खा जाय, वह अपने को उन्हीं परिस्थितियों के अनुकूल बना ले।

दूत—तो भगवन्, आप क्या करने को कहते हैं ?

उपगुप्त-मेरी राय तो यही है कि आप लोगों पर जो अत्याचार हो रहे हैं, उन्हें सहन करके भी लोक-सेवा का कार्य जारी रखना आपका एकमात्र कर्तव्य है।

दूत—आचार्य, क्षत्रप के सैनिक भिक्षुओं का अपमान करते हैं।

उपगुप्त—उन्हें, वे जैसा चाहें, करने दो।

दूत—आचार्य, क्षत्रप बौद्धों का बहिष्कार करवा रहा है।

उपगुप्त—अपने को कभी बहिष्कृत मत समझो, तब कोई तुम्हारा बहिष्कार न कर सकेगा।

दूत—आचार्य, क्षत्रप ने अनेक बौद्ध-आराम गिरवा दिए हैं।

उपगुप्त—इसकी परवाह मत करो।

दूत—तो फिर, आख़िर करें क्या ?

उपगुप्त—भगवान् बुद्ध के आदेशों का पालन।

दूत—वह किस तरह ?

उपगुप्त—अच्छा; तुम्हीं बताओ कि तुमने ये पीत वस्त्र क्यों धारण किए हैं ?

दूत—अपने कल्याण तथा लोक का उपकार करने के लिए।

उपगुप्त—किस 'लोक' का उपकार करने के लिए ?

दूत—यही सम्पूर्ण प्राणी जगत।

उपगुप्त—तुम्हारे इस 'लोक' में वे लोग भी तो शामिल है न, जिन्हें तुम अपना शत्रु समझ रहे हो ?

दूत—जी हाँ, भगवन् !

उपगुप्त—तो उनका वध करके तुम किस तरह उनका उपकार करोगे ?

दूत—यह तो आपत्काल का प्रश्न है प्रभो !

उपगुप्त—आपत्काल ! हाँ, तुम ठीक कहते हो। भगवान् तथागत के अनुयायियों पर आपत्काल आ रहा है। मैं देख रहा हूँ कि राजकुमार अशोक की शक्ति तथा अधिकार-लोलुपता बढ़ रही है और बौद्धों पर उसका असीम क्रोध है। परन्तु इस दशा में भी तुम्हें दयापूर्ण और सहनशील बन कर रहना होगा। भिक्षु के लिए एकमात्र यही मार्ग है। और सब मार्ग उनके लिए बन्द हैं। सच्चा भिक्षु वही है, जो क्रोध को अपनी शन्ति से विजय करता है, जो असाधु को अपनी साधुता के बल पर वश में लाता है, जो अत्याचारी का मुक़ाबला अपनी अखण्डित दया से करता है।

दूत—जो आपकी आज्ञा !

उपगुप्त—जाओ, स्थविर महोदय से कह दो कि वह आदर्श भिक्षु बन कर दिखाएँ। उन पर जो अत्याचार होते हैं, उन्हें सहन करें और मनुष्य-मात्र के लिए अपने हृदय में स्नेह और दया के भाव रक्खें।

दूत—जैसी आपकी आज्ञा श्रीमन्!

उपगुप्त—चलो, तुम्हें विश्राम-गृह तक पहुँचा आऊँ।

(दोनों का प्रस्थान)

दूसरा दृश्य

स्थान—गंगा नदी का राजकीय घाट।

समय—साँझ।

[युवराज सुमन राजवैद्य के साथ खड़े होकर बातें कर रहे हैं। प्रतीत होता है कि बातचीत में घूमते-घामते वह यहाँ आ पहुँचे हैं।]

युव०—आप का क्या विचार है?

वैद्य—मैं निश्चय के साथ कुछ नहीं कह सकता।

युव०—पिता जी अब के इतना घबरा क्यों गए हैं?

वैद्य—यही तो सबसे बड़ी कठिनता है।

युव—मैंने आज तक उन्हें इतना हताश कभी नहीं देखा। इससे पहले भी तो वह अनेक बार बीमार पड़ चुके हैं।

वैद्य—युवराज, सच बात तो यह है कि चिह्न अच्छे नहीं हैं।

युव०—यदि आप कहें तो और वैद्यों की भी राय लेली जाय।

वैद्य—मैं स्वयं आपसे यही कहने वाला था।

युव०—अच्छा, तो आज रात को मैं इस कार्य के लिए चिकित्सकों की एक समिति नियुक्त कर दूँगा।

वैद्य—एक आवश्यक बात यह है कि सम्राट् के सम्मुख अब कोई ऐसी बात नहीं करनी चाहिए, जिससे उन्हें किसी भी तरह की चिन्ता हो जाने का सन्देह हो। यह हृद्-रोग है। इस में रोगी की परिचर्या विशेष सावधानता के साथ करनी चाहिए।

युव०—आपके आदेशों का पालन पूर्णरूप से किया जायगा। आप बता सकेंगे कि सूर्यास्त में अब कितना समय बाकी होगा?

वैद्य—करीब एक चौथाई घड़ी।

युव—अच्छा तो अब आप जा सकते हैं।

वैद्य—नमस्कार!

(प्रस्थान)

[युवराज सीढ़ियाँ उतर कर नदी के जल के निकट जा बैठते हैं। नदी का तरंगित जल उछल-उछल कर सीढ़ियों को भिगो रहा है। रह-रहकर युवराज पर भी उसके छींटे पड़ने लगते हैं।]

युव०— मैंने उसे यही समय तो दिया था, और इसी घाट पर आने के लिए कहलवाया था। वह अभी तक आई क्यों नहीं। यह क्या, पश्चिम दिशा से बादलों का वह समूह बड़ी शीघ्रता से सम्पूर्ण आकाश पर अधिकार करता चला आ रहा है। मालूम होता है, आँधी आनेवाली है।

[इसी समय घाट के ऊपर शीला दिखाई देती है। लज्जा से उसका सुन्दर चेहरा लाल हो उठा है। घाट तक पहुँच कर वह चुपचाप खड़ी हो जाती है।]

युव०—इधर आ जाओ शीला!

(शीला धीरे-धीरे आगे बढ़कर युवराज को प्रणाम करती है)

युव०—(प्रमाण का जवाब देकर) मैंने तुम्हें एक विशेष उद्देश्य से यहाँ बुलाया था।

शीला—कहिए।

युव०—तुम्हें पिता जी की बीमारी का समाचार तो ज्ञात है न !

शीला—पर सुना था कि वह बीमारी मामूली-सी है।

युव०—नहीं शीला, वैद्यों की राय ऐसी नहीं है।

शीला—(ज़रा चिन्ता के साथ) अच्छा !

युव०—मैं चाहता था कि सम्राट् की सेवा-सुश्रुषा का भार तुम्हीं अपने कन्धों पर ले लो।

शीला—इसे मैं अपना परम सौभाग्य समझूँगी।

युव०—परन्तु इससे पूर्व क्या यह आवश्यक नहीं होगा कि बिना किसी विशेष समारोह के हम दोनों का विवाह हो जाय ?

शीला—जैसा आप उचित समझें।

युव०—परन्तु पिता जी यह कैसे स्वीकार करेंगे कि इस विवाह में धूमधाम ज़रा भी न होने पावे।

शीला—उनसे पूछ देखिए।

(हवा तेज़ होकर चलने लगती है।)

युव०—तेज़ आँधी आ रही है शीला !

शीला—जी हाँ युवराज ! (क्षण-भर बाद) इन दिनों बहन चित्रा को भी यहाँ बुला लेना क्या उचित न होगा ?

युव०—बिलकुल ठीक है। मैं कल ही उन्हें सन्देश भिजवा दूँगा।

(सहसा आँधी बड़े वेग से चलने लगती है।)

सुमन—(शीघ्रता के साथ खड़े हो कर) शीला ! यह आँधी साधारण आँधी नहीं है। चलो, अन्दर चलें।

शीला—चलिए !

[आँधी का वेग और भी बढ़ जाता है। कहीं कुछ भी दिखाई नहीं देता। उस अन्धकार में दो छाया-मूर्तियाँ-सी महल की ओर बढ़ती दिखाई दती हैं।]

सुमन—शीला !

शीला—युवराज !

युव०—तुम कहाँ हो शीला ? मुझे कुछ भी दिखाई नहीं देता।

शीला—आर्य ! प्राणनाथ !! तुम कहाँ हो ?

तीसरा दृश्य

स्थान—तक्षशिला का राजमहल।

समय—रात्रि का पहला प्रहर।

[अशोक की पत्नी रानी तिषी (तिष्य रक्षिता) महल के फाटक के निकट ही संगमरमर के ऊचे चबूतरे पर कोहनी टेक कर खड़ी है। उसकी दृष्टि फाटक की ओर है।]

तिषी—नहीं आए; अभी तक नहीं आए। घण्टों से मैं उनकी प्रतीक्षा में हूँ। आज सारा दिन वह इस ओर नहीं आए। जी चाहता है, वह हर-समय मेरे पास बैठे रहें, वह कभी मेरी नजरों से ओझल न हों। मगर नहीं, उन्हें हज़ारों काम रहते हैं। वह मेरी तरह निठल्ले तो नहीं हैं। हम स्त्रियों को जाति भी कितनी स्वार्थी है। वह ठीक ही तो कहते हैं, तुम स्त्रियों को कुछ भी करना नहीं आता।

मगर मैं भी क्या करूँ, मेरा जी नहीं मानता। देखती हूँ, संध्या होते-न-होते मेरे बाग़ की मालिन की कुटिया में जब चूल्हा जलने लगता है, उसका माली भी वहीं आकर बैठ जाता है। जी में आता है, क्या कभी हमारा जीवन भी इतना निश्चिन्त और इतना सुखी हो सकेगा जब उनके सन्मुख सिर्फ़ मैं-ही-मैं होऊँगी और कोई चिन्ता न होगी, कोई कर्तव्य न होगा।

[इसी समय राजमहल की दीवार के बाहर से गाने का मधुर स्वर सुनाई पड़ता है। परन्तु उसी समय—]

पहरेदार—कौन गा रहा है ?

(दो भिक्षु निकट आ जाते हैं।)

पहरेदार—तुम्हें मालूम नहीं कि यह राजमहल है और यहाँ शोर मचाना मना है।

भिक्षु—जी नहीं। हम परदेसी हैं।

पहरे०—अच्छा, तो ज़रा मेहरबानी करके यहाँ से दूर चले जाओ।

रानी—(ज़रा ऊँची आवाज़ से) पहरेदार ! इन्हें अन्दर आने दो।

पहरेदार—जो आज्ञा ! (भिक्षुओं से) अन्दर आ जाइए। आपको महारानी ने बुलाया है।

(दोनों भिक्षु रानी के निकट आकर उन्हें प्रणाम करते हैं।)

रानी—तुम लोग कहाँ से आ रहे हो ?

भिक्षु—पाटलीपुत्र से।

रानी—कहाँ जाओगे ?

भिक्षु—पुष्पपुर।

रानी—तुम्हारा स्वर बड़ा मधुर है भिक्षुओ ! क्या मुझे

वही गीत गा कर सुना सकोगे, जो तुम लोग बाहर गा रहे थे ?

भिक्षु—बड़ी प्रसन्नता से। हमारा काम ही यही है महारानी !

(दोनों भिक्षु इकतारे के साथ गाते हैं)

गीत

नदी के किनारे खड़ा किसका घर है,
पड़ा नींद में कौन तू बेख़बर है।
अरे बसने वाले, ज़रा झाँक बाहर,
बही जा रही नीर-सम यह उमर है।
जरा की उदासी न यौवन का मद है,
न जीवन के ढलने की तुझको फ़िकर है।
पड़ा रह अनोखे मुसाफ़िर मज़े में,
तुझे साथ मेरे न चलना उधर है।
यह निश्चन्द्र रजनी सहम कर खड़ी है,
न जाने कहाँ घाट रस्ता किधर है ?
घिरे मेघ बिजली तड़पने लगी है,
उठा कैसा तूफ़ान—कैसी लहर है !!
प्रलय खेल में लीन आकाश-धरती,
सुलगता हृदय किन्तु मेरा इधर है।
इसी द्वन्द को लाँघ कर मैं चलूँगा,
न मुझको हिचक है, किसी का न डर है।
तनिक बाल दो दीप उस पार आकर,
न मेरे निकट फिर प्रलय है, भँवर है।

रानी—आहा, तुम्हारा यह संगीत कितना मधुर है। एक बार ज़रा फिर से तो सुनाओ।

[दोनों भिक्षु फिर से वही गाना शुरू करना ही चाहते हैं कि इतने में राजकुमार अशोक वहाँ आ जाते हैं।]

अशोक—बस, चुप हो जाओ!

[दोनों भिक्षु घबरा कर चुप रह जाते हैं। रानी भी सहसा पीड़ित-सी हो उठती है।]

अशोक—(भिक्षुओं से) तुम्हें यहाँ आने किसने दिया?

रानी—मैंने ही इन्हें अपने पास बुला लिया था नाथ! आज रात ये लोग राजमहल में ही रहेंगे।

अशोक—पहरेदार!

पहरेदार—(समीप आकर) आज्ञा कीजिए!

अशोक—इन्हें विश्रामगृह में ले जाओ।

(दोनों भिक्षुओं का घबराई हुई-सी दशा में पहरेदार के साथ प्रस्थान)

रानी—इनका गीत बड़ा मधुर और बड़ा करुण है स्वामिन्।

अशोक—मैं इन बौद्ध भिक्षुओं से घृणा करता हूँ तिषी!

रानी—वह क्यों मेरे नाथ?

अशोक—निठल्ले कहीं के, दुनिया-भर को निष्कर्मण्यता का पाठ पढ़ाते फिरते हैं। मेरा बस चले तो इनका सड़कों पर इस तरह गाते फिरना बन्द ही कर दूँ।

रानी—नाथ, आज आप सारा दिन कहाँ रहे?

अशोक—आज काम ज़रा अधिक था। हाँ तिषी, तुम्हें पाटलीपुत्र का समाचार मिला।

रानी—कोई नया समाचार तो मैंने नहीं सुना।

अशोक—सम्राट् बीमार हैं।

रानी—ओ हो !

अशोक—और वैद्यों की राय है कि उनकी दशा चिन्ताजनक है।

(रानी के मुँह पर गहरी चिन्ता के भाव दिखाई देने लगते हैं।)

अशोक—कुछ समझ में नहीं आता कि भविष्य में क्या होनेवाला है।

रानी—सम्राट् की सेवा-सुश्रूषा के लिए मुझे पाटलीपुत्र भिजवा दीजिए। राजकुमारी चित्रा भी तो आजकल पाटलीपुत्र में नहीं है।

अशोक—तुम लोगों को मोह और व्यर्थ की चिन्ता के अतिरिक्त और कुछ नहीं सूझता। जानती हो, मैं क्या सोच रहा हूँ ?

रानी—(उदासभाव से) नहीं।

अशोक—मैं सोचता हूँ, सुमन बड़ा सौभाग्यशाली है कि वह इन दिनों पाटलीपुत्र में है।

रानी—हाँ, इसमें तो सन्देह नहीं। उन्हें पिता जी की सेवा करने का यह अवसर मिलेगा।

अशीक—इस लिए नहीं तिषी ! मगर इस लिए कि यदि सम्राट् का देहान्त हो गया तो पाटलीपुत्र की राजगद्दी पर वह अपना अधिकार कर लेगा।

रानी—(उत्तेजनापूर्ण घबराहट के साथ) इसमें अनौचित्य ही क्या होगा नाथ ! आखिर साम्राज्य के युवराज भी तो वही हैं।

अशोक—मैं यह सब कुछ नहीं मानता। इस दुनिया में सिर्फ़ कुछ समय पहले आ जाने के कारण वह तो सम्राट् बन जाय और मैं राज्य-संचालन की योग्यता में उसकी अपेक्षा कई गुणा अधिक निपुण होते हुए भी सारी उम्र उसकी नौकरी बजाऊँ, यह मुझसे सहन न होगा।

रानी—यह पाप विचार छोड़ दो प्यारे !

अशोक—मुझे तुमसे पहले भी यही आशा थी। क्या तुम सचमुच सम्राज्ञी बनना नहीं चाहतीं ?

रानी—मुझे तो सिर्फ़ तुम्हारे हृदय का साम्राज्य ही चाहिए मेरे नाथ !

अशोक—यह कैसी कायरता है ! तुम लोगों की इसी भीरुता के कारण ही तो स्त्री-जाति बदनाम है।

रानी—मेरी विनती सुनो मेरे नाथ; हम लोग यहाँ तक्षशिला में क्या कुछ कम प्रसन्न हैं ? इससे अधिक हमें और क्या चाहिए।

अशोक—मूर्ख न बनो, इन बातों में दख़ल देना तुम्हारा काम नहीं है। मुझे ज़रा एक काम से मन्त्रणागृह में जाना है।

(प्रस्थान)

रानी—नाथ, मेरे प्यारे, सुनो। मेरी एक बात सुनो।

(अशोक तेज़ी से बढ़ता चला जाता है।)

चौथा दृश्य

स्थान—पाटलीपुत्र के राजमहलों में चित्रा का कमरा ।

समय—मध्याह्न-पूर्व ।

[चित्रा अपने कमरे में बैठी हुई शीला के आने की प्रतीक्षा कर रही है। उसकी प्रधान रक्षिका वहीं मौजूद है ।]

चित्रा—शीला अभी तक नहीं आई ! ज़रा किसी और को तो उनके पास भेजना ।

रक्षिका—इसी थोड़े-से समय में आप एक-एक करके पाँच सन्देशवाहकों को उनके पास भेज चुकी हैं । अब एक और को भेजने से क्या लाभ होगा राजकुमारी !

चित्रा—फिर वह अभी तक आई क्यों नहीं ? अभी तो मुझे पिता जी के पास सेवा-कार्य के लिए जाना है। तुम स्वयं वहाँ क्यों नहीं चली जातीं ?

रक्षिका—आपको यह हो क्या गया है राजकुमारी ! आज प्रातः ही आप इतना लम्बा सफ़र करके यहाँ पहुँचीं हैं। आते ही आप सम्राट् के पास चली गईं । वहाँ से लौटीं तो अब यह धुन सवार हो गई। आप ज़रा नहा-धोकर कुछ आराम तो कर लीजिए।

चित्रा—मेरे जी की दशा तुम क्या समझोगी। ओहो, तुम्हें नहीं मालूम, जब मैंने कामरूप में सुना कि मेरे भाई ने अपनी जीवन-संगिनी चुन ली है, तब जी में आया था कि मेरे पंख क्यों न हुए, जिनकी सहायता से मैं उड़ कर पाटलीपुत्र पहुँच जाती और अपनी भावी भाभी का मुँह देख पाती। मेरे भाई साहब को तुम नहीं पहचानती। वह मनुष्य नहीं, देवता हैं। मेरा खयाल था कि उनके योग्य नारी इस

पृथिवी पर कोई नहीं होगी। ज़रा देखूँ तो वह कौन सौभाग्यशालिनी कुमारी है, जिसे मेरे भाई के हृदय का स्नेह प्राप्त हुआ है।

(शीला का प्रवेश)

रक्षिका—(आगे बढ़ कर) आप ही······

चित्रा—(बीच ही में) तुम्हें परिचय देने की आवश्यकता नहीं। तुम जाओ।

[चित्रा आगे बढ़ कर शीला का हाथ पकड़ लेती है। एक क्षण तक वह पूरी तन्मयता के साथ शीला का मुँह देखती रहती है। इसके बाद वह उसे गले से लगा लेती है। चित्रा की आँखों में आनन्द के आँसू भर आते हैं।]

चित्रा—(अर्ध-स्वगत) तुम ! तुम ! तुम ! ठीक है, तुम्हीं मेरे भाई के लिए उपयुक्त जीवन-सहचरी सिद्ध हो सकोगी। तुम उनको प्रसन्न रख सकोगी।

शीला—आप आज ही आ रही हैं ?

चित्रा—देखो बहन, मुझे आप मत कहो। वह मुझ से बड़े हैं, और तुम मुझ से छोटी हो, इसलिये मैं तुम्हें अपने बराबर का ही समझूँगी। मुझे तुम अपनी बराबर की बहन समझो।

[शीला का हृदय प्रसन्नता से गद्गद हो जाता है, वह चित्रा का हाथ कस कर पकड़ लेती है।]

शीला—यह मेरा परम सौभाग्य है दीदी !

चित्रा—हाँ, वह भी ठीक है। देखो बहन, तुम बड़ी निठुर हो। मैं जबसे यहाँ पहुँची हूँ, तुम्हारी प्रतीक्षा कर रही हूँ और तुम इतनी देर करके आई।

शीला – इसमें मेरा दोष नहीं है दीदी। तुम्हारे आने की बात मुझे मालूम ही न थी। पिताजी के पास हो आई हो ?

चित्रा – हाँ, आते ही मैं उनके पास गई थी। मुझसे तो राजवैद्य ने यही कहा है कि चिन्ता की कोई बात नहीं। अच्छा, तुम एक बात का जवाब दोगी ?

शीला – पूछो !

चित्रा – मगर जवाब बिना कुछ भी सोचे-विचारे एकदम दे देना होगा। तुम एक क्षण भी रुक गईं अथवा तुमने सोच कर जवाब देने का प्रयत्न किया तो वह अपशकुन हो जायगा। समझीं न ?

शीला – मैं एकदम जवाब दे दूँगी।

चित्रा – अच्छा बताओ, पिताजी की इस बीमारी में कोई ख़तरा तो नहीं है ?

(सहसा शीला घबरा-सी जाती है)

शीला—(दो-तीन क्षणों के बाद) मेरा ख़याल है कि......

चित्रा—(बीच में रोक कर) बस, अब जवाब देने की ज़रूरत नहीं रही।

[दोनों के मुँह पर उदासी दिखाई देने लगती है और कुछ क्षणों तक दोनों चुपचाप बैठी रहती है।]

चित्रा—(बात बदलने की इच्छा से) देखो न, भाई साहब में अभी से कितना अन्तर आ गया है। मुझसे कहा करते थे कि तुम्हें छोड़ कर दुनिया में मैं और किसी को नहीं जानता। और आज, मुझे पाटलीपुत्र आए एक प्रहर बीत गया और उन्होंने अभी तक दर्शन ही नहीं दिए।

शीला—अच्छा बहन, बताओ, तुम उन्हें इस बात की क्या सजा दोगी ?

चित्रा—क्यों, अभी से सज़ा देने के ढंग भी सीख लेने की इच्छा है ? (मुसकराहट)

शीला—(ज़रा लज्जित-सी होकर) आख़िर वह बहन ही के तो भाई हैं ?

चित्रा—अच्छा बहन, एक बात बताना। वह तुम्हें कितना चाहते हैं ?

(शीला लज्जित होकर सिर झुका लेती है।)

चित्रा—जुग-जुग जीयो बहन ! तुम दोनों एक दूसरे को पाकर परम सौभाग्यशाली बनो।

पाँचवाँ दृश्य

स्थान—सम्राट् बिन्दुसार का महल।

समय—रात के तीन बजे।

[सम्राट् बिन्दुसार पहली साँझ से बेहोश पड़े हैं। पास ही राजवैद्य महोदय उनकी नाड़ी पकड़े बैठे हैं। एक तरफ़ युवराज सुमन खड़े हुए हैं। दूसरी ओर बहुत ही उदास भाव से चित्रा बैठी है। सब ओर सन्नाटा है। सभी दरवाज़ों पर रक्षकों का पहरा है।]

राजवैद्य—(नाड़ी टटोल कर) नाड़ी की गति अब बढ़ गई है।

सुमन—(धीरे से) इसका क्या अभिप्राय है ?

वैद्य—सम्भवतः शीघ्र ही सम्राट् की बेहोशी टूट जायगी। परन्तु इस समय बहुत ही सतर्क रहने की आवश्यकता है।

[सहसा सम्राट् धीरे-धीरे करवट बदलते हैं । तब चित्रा और युवराज दोनों उठ कर खड़े हो जाते हैं ।]

सम्राट्—(बेहोशी में ही) बेटा सुमन !

सुमन—जी पिताजी !

सम्राट्—(बेहोशी में ही) ना सुमन, ज़िद मत करो ! मेरी बात मान जाओ बेटा ! मेरे साथ चल कर क्या करोगे। तुम यहीं रहो ! तुम कहीं मत जाओ !

सुमन—पिता जी मैं आपके पास ही हूँ ।

सम्राट्—(सहसा होश में आकर ज़रा चकित और बहुत ही कमज़ोर दृष्टि से दो-एक क्षणों तक सुमन और चित्रा की ओर चुपचाप देखते रहते हैं । इसके बाद, बहुत धीमे स्वर में वह कहते हैं ।) मैं जा रहा हूँ सुमन !

सुमन—(अपनी रुलाई को ज़बरदस्ती रोक कर) नहीं पिताजी ! परमात्मा करे आपका हाथ हम पर सदा बना रहे ।

सम्राट्—अशोक ! तिष्य !—वे दोनों कहाँ हैं ?

सुमन—वे भी शीघ्र यहाँ पहुँच जायँगे पिताजी !

सम्राट्—अशोक से नाराज़ न होना बेटा; वह जन्म ही से ज़रा तेज़ स्वभाव का है ।

सुमन—अब तबीयत कैसी है पिताजी ?

सम्राट्—बस, अब सब समाप्त हो जायगा ।

[युवराज बरदाश्त नहीं कर सकते । कहीं रुलाई फूट न पड़े, इस भय से वह पीछे हट जाते हैं ।]

चित्रा—पिता जी !

सम्राट्—(धीरे धीरे आँखें घुमा कर) हाँ बेटी !

चित्रा—बहुत तकलीफ़ मालूम हो रही है क्या ?

सम्राट्—नहीं बेटी।...अपना हाथ तो जरा इधर लाओ।

चित्रा अपना दाहिना हाथ सम्राट् के हाथ के पास ले जाती है। सम्राट् धीरे से उसे पकड़ लेते हैं।]

सम्राट्—मेरे पीछे उदास न होना चित्रा!

(चित्रा की रुलाई फूटना चाहती है, मगर वह सहन किए रहती है।)

चित्रा—पिताजी, आप जरूर अच्छे हो जायँगे!

(सम्राट् के मुँह पर फीकी-सी मुसकान दिखाई देती है।)

वैद्यराज—(चित्रा को लक्ष्य करके धीरे से) सम्राट् से बात-चीत न कीजिए राजकुमारी!

[चित्रा घुटने टेक कर वहीं बैठ जाती है। एक क्षण सन्नाटा रहता है। उसके बाद सम्राट् की मुट्ठी ढीली पड़ जाती है। उनके गले में से घरघराहट की तीखी-सी आवाज सुनाई देने लगती है। सब लोग घबरा जाते हैं।]

वैद्यराज—युवराज, अब कोई आशा प्रतीत नहीं होती।

सम्राट्—(सहसा अस्पष्ट-सी आवाज में गुनगुना उठते हैं) मैं आया पिताजी!...अशोक...तिष्य...सुमन...चित्रा!...

[इसके बाद वह जैसे दिल-ही-दिल में कुछ गुनगुनाते रहते हैं। उनकी नाड़ी वैद्यराज के हाथों में है। क्रमशः सन्नाटा छा जाता है।]

वैद्य०—बस, सब समाप्त हो गया!

[चित्रा दहाड़ मार कर रो उठती है, युवराज सम्राट् के चरणों पर सिर रख कर रोने लगते हैं। सम्राट् का शरीर राजकीय झण्डे से ढक दिया जाता है।]

दृश्य परिवर्तन

[पाटलीपुत्र का एक सामान्य दृश्य। नगर में सन्नाटा छाया हुआ है। सभी जगह काले झण्डे उड़ रहे हैं। नागरिकों ने भी काले वस्त्र पहन रक्खे हैं। राजमहलों के आस-पास हजारों नागरिक जमा हैं। बाजार बन्द हैं। सारा नगर शोक-मग्न दिखाई दे रहा है।]

छठा दृश्य

स्थान—गण्डक नदी का किनारा।

समय—रात का पहला प्रहर।

[नदी के किनारे राजकुमार अशोक की सेना का डेरा लगा हुआ है। एक तम्बू में अशोक के सेनापति चण्डगिरी तथा अन्य सहायक मन्त्रणा के लिए एकत्रित हैं। बाहर तेज आँधी चल रही है। अशोक इसी आँधी में अपने तम्बू के बाहर धीरे-धीरे अकेले टहल रहे हैं। गण्डक नदी के पानी में बड़ी-बड़ी लहरें उठ रही हैं। दूर पर, अशोक के सैनिक नदी पर पुल बाँधने में व्यस्त है। वे सब मिल कर एक गीत गा रहे हैं, जिस की आवाज हवा से उड़-उड़कर कभी ऊँचे और कभी धीमे रूप में अशोक के कानों में पहुँच रही है।]

गीत

सुनो वीर ! बजती रणभेरी, करती दूर तुम्हें आह्वान
चलो विजय लक्ष्मी वर लावें, प्राप्त करें वैभव-धन-मान।

स्तब्ध विश्व है निशा अँधेरी
वन - पर्वत - नगरी सुनसान,
यही समय है शत्रु शिविर पर
जा बरसें बन कर तूफ़ान।
किधर विघ्न है ? बाधा कैसी ?
अड़ता प्रलय मेघ से कौन ??
सैन्य - सिन्धु के महावेग को
विश्व देख ले होकर मौन।
मार्ग हमारा रोक सके क्या
क्षुद्र गण्डकी की यह धार

इसे बाँधना कौन कठिन है
आज पाट दें सिन्धु अपार।
विजय लाभ या आत्मार्पण है
सैनिक जीवन का इतिहास
अमर कीर्त्ति रचने का वीरों
आ पहुँचा है अवसर पास।

अशोक—(आप-ही-आप) गीत रुक गया ! जैसे चलते-चलते नदी की धारा रुक जाय ! मैं अभी तक यही देख रहा था कि मेरे सैनिकों में कितना उत्साह है। वे आँधी, वर्षा, तूफ़ान किसी की परवाह नहीं करते। मेरा जी कहता है, मुझे विजय अवश्य प्राप्त होगी। चलूँ, ज़रा तम्बू के अन्दर चलकर देखूँ, मेरे सहायकों की क्या राय है।

[अशोक अन्दर जाकर अपने स्थान पर बैठ जाते हैं। सब लोग खड़े होकर उनका स्वागत करते हैं।]

अशोक—चण्डगिरी, तुम्हारा क्या विचार है; रात-ही-रात में गण्डक नदी पर पुल बाँध लिया जा सकेगा ?

चण्डगिरी—मुझे इसका पूरा विश्वास है राजकुमार !

अशोक—मैं अभी-अभी बाहर खड़े रह कर अपने सैनिकों का उत्साहपूर्ण गीत सुन रहा था। उनका उत्साह देख कर सहसा मुझे एक बात का ध्यान हो आया और मैंने अनुभव किया कि सहसा मुझ पर भावुकता का आक्रमण होने लगा है।

चण्डगिरी—(साश्चर्य) वह क्या बात थी महाराज ?

अशोक—बात कुछ नहीं, यों ही हृदय की कुछ कमजोरी-सी थी। मुझे ख़याल आया, सीमाप्रान्त के इन कद्दावर और

हृष्ट-पुष्ट सैनिकों पर पिताजी को कितना गर्व था। उन्हें कभी स्वप्न में भी उमीद न होगी कि उनके ये विश्वासपात्र सैनिक कभी उनके बड़े पुत्र के विरोध में ही अस्त्र लेकर युद्ध करने आएँगे।

[चण्डगिरी खिलखिला कर हँस पड़ता है और अशोक उसकी ओर आश्चर्य से देखने लगता है।]

चण्डगिरी—बस इतनी ही बात थी मालिक! आप भी तो सम्राट् के पुत्र हैं। तक्षशिला के वीर सैनिक अब भी तो सम्राट् के योग्यतम पुत्र के इशारे पर जान तक देने को तैयार हैं।

अशोक—चण्डगिरी, युवराज को मुझ पर अगाध विश्वास है। तुमने उनका वह पत्र नहीं पढ़ा, जिसमें उन्होंने सम्राट् के देहान्त का समाचार देकर मुझे पाटलीपुत्र चले आने को लिखा है। उस पत्र का एक-एक अक्षर मेरे प्रति गहरे प्रेम और विश्वास में डूबा हुआ है और,—और कहते हुए कुछ लज्जा-सी प्रतीत होती है, उसी पत्र पर बहन चित्रा ने भी दो-चार पंक्तियाँ लिखी हैं। ओह, मेरी बहन कितने सरल हृदय की है।

चण्डगिरी—यही सब तो आशा के चिह्न हैं महाराज! आप अपने भाई पर अत्याचार करने तो नहीं चले। आप चले हैं, साम्राज्य के हित की इच्छा से; इस मगध-साम्राज्य को संसार का सब से महान् साम्राज्य बना देने की महत्वाकांक्षा से। हृदय के उत्साह को मसल देनेवाली इस थोथी भावुकता को जी से निकाल कर ज़रा सोचिए तो! आप अपने पिता के साम्राज्य को संसार का सबसे बड़ा और सब

से अधिक सुशासित महा-साम्राज्य बना देने की पुण्य महत्वाकांक्षा से पाटलीपुत्र पर आक्रमण करने चले हैं। भाई और बहन के भावों का सन्मान करना कुछ बुरी बात नहीं है। परन्तु मुझे मालूम है, उन पर किसी तरह का अत्याचार करने की आपकी ज़रा भी इच्छा नहीं। आप तो सिर्फ़ साम्राज्य की बागडोर अपने हाथ में लेने चले हैं। और वह भी पूर्णतया साम्राज्य के हितों के विचार से ही।

अशोक—ठीक कहते हो चण्डगिरी। मैं अपने भाई को काश्मीर भेज दूँगा और आजन्म उनकी सेवा करूँगा। मगर साम्राज्य के हित की दृष्टि से मुझे पाटलीपुत्र पर अधिकार तो करना ही होगा।

चण्डगिरी—यही बात आपको शोभा देती है राजकुमार!

अशोक तुम मनुष्य नहीं, दानव हो चण्डगिरी!

चण्डगिरी—मेरा यह सम्पूर्ण दानवपन आपके चरणों पर न्यौछावर है, महाराज!

(अशोक फीका-सा मुसकरा कर चुप रह जाता है।)

चण्डगिरी—आपने तक्षशिला के नागरिकों के क्रोध से मेरी रक्षा की है। मैं आप के उपकार से आजन्म उऋण नहीं हो सकूँगा।

अशोक—प्रातःकाल प्रस्थान के लिए सब लोग तैयार रहो।

चण्डगिरी—यहाँ से पाटलीपुत्र पहुँचने में सिर्फ़ तीन दिन बाकी हैं और आज से चौथे दिन आप मगध-साम्राज्य के सम्राट् होंगे राजकुमार!

अशोक—बीच-बीच भावुकता मुझे अपना शिकार बना

लेती है। चण्डगिरी, मैं आशा करता हूँ कि तुम्हारे ऐसा दानव सदा मुझे उसके आक्रमण से बचा लिया करेगा।

चण्डगिरी—(जरा मुसकरा कर) आप इस ओर से निश्चिन्त रहें राजकुमार !

अशोक—आप लोग अब जा सकते हैं।

(सबका प्रस्थान)

सातवाँ दृश्य

स्थान—कामरूप की राजधानी।

समय—मध्याह्नोत्तर।

[राजकुमार तिष्य बहुत ही उद्विग्न भाव से एक ही जगह के आस-पास टहल रहे हैं और पाटलीपुत्र से आए हुए एक दूत के साथ, जो पत्थर की मूर्ति के समान निश्चल होकर खड़ा है, बातचीत कर रहे हैं।]

तिश्य—तो फिर ?

दूत—युवराज अपने इस आग्रह पर डटे ही रहे कि वह अपने भाई के साथ युद्ध नहीं करेंगे। यहाँ तक कि राजकुमारी चित्रा ने भी उन्हें युद्ध के लिए प्रेरित किया, मगर उन्होंने उसकी भी एक न सुनी।

तिष्य—और अशोक ?

दूत—राजकुमार अशोक पाटलीपुत्र के चारों ओर घेरा डाल कर पड़े हुए थे। नगर के सभी द्वार बन्द थे। नागरिकों में इतना गहरा रोष था कि वह रोष पाटलीपुत्र के इतिहास में अदृष्टपूर्व है। पाटलीपुत्र के नगर-भवन के सन्मुख राजकुमार अशोक की जो प्रस्तर-मूर्ति है, उस पर उस एक रात में कम-से-कम एक लाख जूते पड़े होंगे। उस

मूर्ति का नाक-मुँह सभी कुछ जूतों की इस निरन्तर मार से घिस गया है।

तिष्य—आखिर युवराज करते क्या रहे ?

दूत—उन्हें जब मालूम हुआ कि नागरिक राजकुमार अशोक की प्रस्तर-मूर्ति का यह अपमान कर रहे हैं, तो स्वयं उस स्थान पर पहुँच कर उन्होंने अपने शरीर-रक्षकों को उस मूर्ति की रक्षा के लिए नियुक्त कर दिया।

तिष्य—इसके बाद ?

दूत—इसके बाद उन्होंने भग्न-हृदय से पाटलीपुत्र के नगर-भवन के सामने एकत्र हुई हज़ारों नागरिकों की भीड़ से कहा—"भाइयो, आप लोग जब अशोक की मूर्ति का अपमान करते हैं, तो मेरा अपमान करते हैं। आप लोग मेरी बात मानिए और नगर के द्वार खोल दीजिए।"

तिष्य—यहाँ तक ! ओहो !

दूत—युवराज की यह बात सुन कर पाटलीपुत्र के हज़ारों नागरिकों की वह भीड़ बच्चों की तरह फुफकारकर रो उठी !

तिष्य—(आँसू पोंछ कर) इसके बाद ?

दूत—इस पर नगर-समिति के अध्यक्ष ने रोते-रोते युवराज से कहा—"महाराज, यह हमसे न होगा ! हम लोगों के प्राण चले जायँ, मगर हम अशोक के स्वागत में नगर के फाटक कभी न खोल सकेंगे।"

तिष्य—शाबास नागरिको ! तब ?

दूत—तब, युवराज ने स्वयं जाकर अपने शरीर-रक्षकों की सहायता से नगर के द्वार खोल दिए ! और तब अशोक की सेना नगर में घुस आई। पाटलीपुत्र के नवयुवक ग़ुस्से

से दाँत पीसने लगे; वृद्ध सिसकियाँ भरने लगे और महिलाएँ चिल्ला-चिल्ला कर रोने लगीं। सभी ओर मातम छा गया। मगर युवराज का लिहाज़ करके किसी ने अशोक के खिलाफ़ अस्त्र नहीं उठाया। अशोक के सैनिकों ने अनायास ही सम्पूर्ण नगर पर अधिकार कर लिया।

तिष्य—युवराज तुम देवता हो! (दूत से) युवराज अब कहाँ हैं?

दूत—राजमहल के राजकीय कारागार में।

तिष्य—युवराज और कैद में! मैं यह क्या सुन रहा हूँ! जमीन तू फट क्यों नहीं जाती? आकाश! तुम्हारा वज्र किधर है? मगध-साम्राज्य के नागरिको! तुम्हारा खून क्यों नहीं खौल उठता? आज संसार की सबसे बड़ी विभूति, मेरे दादा महान् चन्द्रगुप्त मौर्य का सबसे बड़ा पौत्र, इस महा-साम्राज्य का एकमात्र उत्तराधिकारी जेल में पड़ा है और सारा संसार उसी तरह शान्त-भाव से चला जा रहा है; जैसे कुछ हुआ ही न हो!......हे प्रभो!

[आवेश से राजकुमार का सारा शरीर काँपने लगता है। उन्हें शीघ्र ही मूर्छा आ जाती है।]

दूत—कोई है?

(एक रक्षक का प्रवेश)

रक्षक—आज्ञा कीजिए!

दूत—राजकुमार को सँभालो।

[अनेक रक्षक आकर राजकुमार के शरीर को सँभाल लेते हैं। इसी समय वैद्य भी आ पहुँचते हैं।]

पटाक्षेप

तीसरा अंक

पहला दृश्य

स्थान—पाटलीपुत्र का राजकीय बन्दीगृह।

समय—प्रभात।

[बन्दीगृह में युवराज सुमन चुपचाप बैठे कुछ सोच रहे हैं। द्वार पर पहरेदार धीरे-धीरे चक्कर लगा रहा है।]

सुमन—आखिर यह दिन देखना भी भाग्य में बदा था! अशोक, निष्ठुरता के बीज तो तुम में बचपन ही से थे, परन्तु तुम यहाँ तक बढ़ जाओगे, इसकी कल्पना किसी को नहीं थी। (सहसा एक हूक-सी, मानो जबरदस्ती, उनके अन्तस्तल से उठ खड़ी होती है और वह गहरी साँस लेते हैं) अशोक, तुम ने मेरा दिल तोड़ दिया है! मैं कष्ट की परवा नहीं करता। राजसिंहासन को मनोविनोद और ऐश-आराम का साधन मैंने एक दिन के लिए भी नहीं समझा। जेल की पराधीनता भी मैं सहन कर सकता हूँ। परन्तु तुम्हारी यह निष्ठुरता! उफ़, यह कितनी तीव्र वेदना है! (सहसा उनकी निगाह पहरेदार पर पड़ती है) आज सम्पूर्ण पाटलीपुत्र सीमाप्रान्त के विशाल-काय सैनिकों की देख-रेख में हैं। यह लम्बा-चौड़ा पहरेदार! मगर हमारे सैनिक क्या इनका मुकाबला नहीं कर सकते थे? पाटलीपुत्र की सुशिक्षित सेना का सामना संसार के और किस देश की सेना कर सकती है? परन्तु मैंने तो युद्ध की नौबत ही नहीं आने दी। क्या मैंने यह ठीक

किया ?···हाँ, मेरा अन्तःकरण कहता है, मैंने ठीक किया। बड़ा भाई होकर छोटे भाई पर हाथ उठाता! वह सम्राट् बनना चाहता है, उसे सम्राट् बन जाने दो!···मगर देखो अशोक, तुमने इस तरह आक्रमण करके मेरा दिल क्यों तोड़ दिया? तुम नहीं जानते, मैं कितनी उत्सुकता से तुम्हारे आने की प्रतीक्षा कर रहा था।···ज़रा इस पहरेदार से ही बातचीत करूँ। आदमी तो कुछ बुरा प्रतीत नहीं होता।

सुमन—पहरेदार!

पहरे०—(रुक कर) हज़ूर!

सुमन—ज़रा बात तो सुनो।

पहरे०—(नज़दीक आकर) हुक्म कीजिए।

सुमन—तुम्हारा घर कहाँ है?

पहरे०—मुझे अपने घर के सम्बन्ध में कुछ भी मालूम नहीं हज़ूर।

सुमन—तुम्हारा बचपन कहाँ बीता?

पहरे०—तक्षशिला के सैनिक अनाथगृह में।

सुमन—तुमने कभी सम्राट् बिन्दुसार को देखा था?

पहरे०—(सम्राट् का नाम सुनकर वह शीघ्रता से तलवार शिरस्त्राण से छुआ कर सम्मान प्रदर्शित करता है।) जी हाँ!

सुमन—कहाँ?

पहरे०—जब वह तक्षशिला का निरीक्षण करने आए थे। तब मैं अभी बालक ही था।

सुमन—कभी पहले भी पाटलीपुत्र आए हो?

पहरे०—जी नहीं।

सुमन—तुम्हें यह नगर पसन्द आया?

पहरे०—अभी तो कुछ देखा ही नहीं हज़ूर ! मगर कुछ अच्छा असर नहीं पड़ा।

सुमन—क्यों ?

पहरे०—यहाँ के सैनिक कुछ डरपोक-से प्रतीत होते हैं युवराज !

सुमन—क्यों कि वे तुम लोगों से डर गए थे ?

पहरे०—यह तो मैं नहीं कह सकता। मगर असर कुछ अच्छा नहीं पड़ा है !

[सुमन सहसा गम्भीर हो जाते हैं। जैसे इस उजड्ड अर्धशिक्षित पहरेदार ने उनके अन्तःकरण को चोट पहुँचाई हो। युवराज को चुप देख कर पहरेदार फिर से अपने घूमने की कसरत शुरू कर देता है।]

सुमन—(स्वगत) सुमन ! सुन लिया। तुम्हारे भ्रातृ-प्रेम की कैसी सुन्दर व्याख्या सीमाप्रान्त के इस अशिक्षित सैनिक ने की है। ये सब लोग मुझे कितना कायर समझ रहे होंगे !

[चण्डगिरी का प्रवेश। पहरेदार तलवार शिरस्त्राण से छुआ कर उसे नमस्कार करता है।]

चण्डगिरी—सब ठीक है ?

पहरे०—ठीक है, हज़ूर।

[युवराज को चण्डगिरी की सूरत कुछ परिचित-सी तो प्रतीत होती है, मगर वह उसे पहचान नहीं पाते। इसी समय चण्डगिरी निकट आकर सैनिक ढंग से उन्हें नमस्कार करता है।]

सुमन—तुम कौन हो ?

चण्ड०—जी ! मेरा नाम चण्डगिरी है।

सुमन—ओह, चण्डगिरी ! तुम में बड़ा परिवर्तन आ गया है !

चण्ड०—जी, परिवर्तन तो इस संसार का नियम ही है।

सुमन—देखो, अशोक को मेरे पास भेज सकोगे ?

चण्ड०—जी, कह नहीं सकता। मैं उनकी सेवा में निवेदन अवश्य कर दूँगा।

सुमन—तुम साम्राज्य के सेनापति नियुक्त हुए हो ?

चण्ड०—जी !

सुमन—नगर में कहीं विद्रोह तो नहीं हुआ चण्डगिरी ?

चण्ड०—जी नहीं। सब जगह पूरी शान्ति है।

सुमन—नागरिकों में असन्तोष तो नहीं है ?

चण्ड०—जी, मालूम तो बिल्कुल नहीं होता !

(सुमन चुपचाप कुछ सोचने लगते हैं।)

चण्ड०—जी, आपको यहाँ कोई कष्ट तो नहीं ?

सुमन—नहीं।

(चण्डगिरी का सैनिक ढंग से प्रणाम करके प्रस्थान)

सुमन—(स्वगत) पाटलीपुत्र में पूर्णतः शान्ति है, इस समाचार से मुझे खुशी होनी चाहिए अथवा रंज ! कुछ समझ नहीं आता। मैं इधर जेल में पड़ा हूँ। सीमाप्रान्त के सैनिक मुझे और पाटलीपुत्र के सैनिकों को कायर समझ रहे हैं। नगर में पूरी शान्ति है। अशोक ने अपना मन्त्रि-मण्डल बना लिया है। साम्राज्य का काम उसी तरह चला जा रहा है। इस सब के बीच तुम्हारी भी क्या कोई जगह है सुमन ! हे ईश्वर ! तुम ने ऐसा दिल दिया था तो मुझे अशोक का बड़ा भाई ही क्यों बना दिया।

(युवराज की आँखों में आँसू भर आते हैं।)

दूसरा दृश्य

स्थान—आचार्य दीपवर्धन का मकान।

समय—मध्याह्न पूर्व।

[आचार्य दीपवर्धन बीमार पड़े हैं। रह-रहकर उन्हें प्रलाप-मूर्छा आजाती है। शीला उनके सिरहाने बैठी है।]

दीप०—(मूर्छित दशा में बड़ी घृणा व्यंजक हँसी हँस कर) हाँ अब माफ़ी माँगता है, ख़ूनी कहीं के! मैंने पहले ही कहा था, एक दिन तू मेरे सामने गिड़गिड़ा कर माफ़ी माँगेगा; और मैं तुझे माफ़ नहीं करूँगा। खड़ा रह पापी, अधम, कायर, लुटेरा, ख़ूनी! तू पाटलीपुत्र के मगध-साम्राज्य का स्वामी बन बैठा था! अशोक...हः-हः-हः...अशोक! तेरा नाम किस बेवकूफ ने 'अशोक' रख दिया था। ठहर जा, तुझे तेरी करतूतों की पूरी सज़ा दूँगा लुटेरे!

शीला—पिताजी! पिताजी!

दीप०—(होश में आकर) क्या है बेटी! मैंने अभी एक बड़ा सुख का सपना देखा है शीला। मैंने देखा, पाटलीपुत्र के नागरिकों ने अशोक को गिरफ़्तार कर लिया है। क्या अशोक सचमुच पकड़ लिया गया है?

शीला— नहीं पिता जी। वह आपका सपना था। आप आराम कीजिए। इन बातों की चिन्ता भुला दीजिए।

दीप०—भुला दूँ? ये सब बातें भुला दूँ बेटी! मैं सब समझता हूँ। तेरे जी में शोक का जो तेज़ तूफ़ान चल रहा है, उसे मैं ख़ूब अच्छी तरह समझता हूँ। मगर बेटी, तुम धैर्य रक्खो। मैं अच्छा होते ही पाटलीपुत्र के नागरिकों में

उत्साह की वह आग फूँक दूँगा कि अत्याचारी अशोक उसमें अनायास ही भस्म हो जायगा।

शीला—पिता जी, मैं बहुत अच्छी तरह से हूँ। आप इन बातों की चिन्ता भुला दीजिए।

दीप०—(सहसा उठ कर बैठ जाते हैं) तू सच-सच कह दे बेटी, क्या तुझे यह भारी शोक अन्दर-ही-अन्दर से तिल-तिल करके भस्म नहीं कर रहा! नहीं शीला, तेरा चेहरा साफ़ बता रहा है कि तेरे दिल की क्या हालत है! बेटी, धैर्य रखना। परमात्मा इतना अत्याचार कभी सहन नहीं करेगा!

शीला—आप इतनी चिन्ता क्यों करते हैं पिताजी! यह तो होता ही रहता है। आख़िर वे दोनों सगे भाई हैं। राजकुमार अशोक उनके दुश्मन नहीं हैं। गद्दी पर एक भाई न सही तो दूसरा ही सही। अशोक उन्हें किसी किस्म की तकलीफ़ न पहुँचाएँगे।

दीप०—मेरा जी नहीं मानता बेटी! मेरी कल्पना के सन्मुख बड़े भयङ्कर-भयङ्कर चित्र खिंच जाते हैं। ज़रूर कोई भारी अनर्थ होनेवाला है।

(वैद्य का प्रवेश)

वैद्य—(दीपवर्धन की परीक्षा करके) यह आकस्मिक आघात का परिणाम है। आप चिन्ता न करें। मैं अभी नींद की एक दवाई देता हूँ, जो तत्काल अपना प्रभाव दिखाएगी। नींद आपके लिए बड़ी लाभकर सिद्ध होगी।

दीप०—मैं कोई दवाई नहीं खाऊँगा। मुझे अब जीने की इच्छा नहीं है वैद्य जी।

[सहसा दीपवर्धन की निगाह शीला के चेहरे पर पड़ती है, वह अनुभव करते हैं कि उनकी इस बात से शीला को ठेस पहुँची है। अतः वह शीघ्रता से अपनी बात बदल देते हैं।]

दीप०—नहीं वैद्य जी। आप दवाई दीजिए, मैं खुशी से उसका सेवन करूँगा।

(वैद्य जी दवाई पिलाते हैं और दीपवर्धन को तत्काल गहरी नींद आजाती है।)

वैद्य—(शीला से) आचार्य जी के स्वास्थ्य का बहुत अधिक ध्यान रखने की आवश्यकता है, राजकुमारी! उन की दशा सचमुच चिन्ताजनक है।

शीला—अगली दवा कब दी जायगी ?

वैद्य—सायंकाल। मैं उस समय पुनः इन्हें देखने आऊँगा।

(प्रस्थान)

शीला—(दीपवर्धन के कपड़े ठीक करते हुए स्वगत) मैं सब समझती हूँ पिताजी! मेरे दुख ने आपका दिल तोड़ दिया है! ओह, मैं कितना चाहती हूँ कि आपसे अपने दिल के दुख को छिपाए रक्खूँ। इसी से मैंने एक बार भी अपनी आँखों में आँसू तक नहीं आने दिए। मगर आप सब समझते हैं पिताजी! ओह, मैं अभागी क्या करूँ? अशोक, अशोक, तुम कितने निठुर हो!

तीसरा दृश्य

स्थान—पाटलीपुत्र का राजमहल।

समय—सायंकाल।

[महल के बाहर पाटलीपुत्र के क्रुद्ध नागरिकों की एक बहुत बड़ी भीड़ जमा है। फाटकों पर सशस्त्र सैनिकों का पहरा है। कोई अन्दर आ-जा नहीं सकता।]

एक नागरिक—(ऊँचे स्वर में) पाटलीपुत्र के नागरिको, तुम्हें ज्ञात है कि अत्याचारी अशोक ने युवराज को कैद में डाल रक्खा है।

पहली आवाज़—हम इसे कभी सहन नहीं करेंगे।

दूसरी०—हम अत्याचारी अशोक को कभी अपना सम्राट् नहीं मान सकते।

तीसरी०—पाटलीपुत्र के निवासियों में अभी जीवन बाकी है!

चौथी०—महलों पर आक्रमण कर दो!

पाँचवीं०—अशोक को गिरफ़्तार कर लो!

छठी०—पापी अशोक का नाश हो!

सब लोग—(एक साथ) पापी अशोक का नाश हो!

पहला नागरिक—भाइयो, इस तरह काम नहीं चलेगा। हमें चाहिए कि हम लोग बाक़ायदा अपने मुखियाओं का निर्वाचन कर लें, और तब संगठित हो कर कोई काम शुरू करें।

अनेक आवाज़ें—ठीक है, ठीक है।

[सब लोग वहीं बैठ जाते हैं और उसी नागरिक की अध्यक्षता में मन्त्रणा शुरू हो जाती है। बीच-बीच में नारे भी लगते जाते हैं।]

(दृश्य बदलता है।)

[अशोक अपने सहायकों तथा मन्त्रियों सहित राज-सभा-भवन में बैठा है। नगर की परिस्थितियों पर विचार किया जा रहा है।]

अशोक—तो फिर यही निश्चय रहा कि अभी राज्याभिषेक के उत्सव को स्थगित रक्खा जाय?

अनेक मन्त्री—जी हाँ महाराज !

चण्डगिरी—मेरी राय में हमें तक्षशिला से और भी सैनिक पाटलीपुत्र में मँगवा लेने चाहिएँ ।

अशोक—नहीं, मैं इस से सहमत नहीं हूँ । इस दशा में सीमाप्रान्त असुरक्षित हो जायगा और तब यूनानियों को आक्रमण करने का अवसर मिल जायगा ।

प्रधानमन्त्री—आपकी राय ठीक है महाराज ।

अशोक—मेरी राय में हमें जनता में विश्वास उत्पन्न करने का प्रयत्न करना चाहिए ।

चण्ड०—यह बात सम्भव नहीं है महाराज !

अशोक—सम्भव कैसे नहीं है ?

[इसी समय दूर पर से हजारों कण्ठों की क्रुद्ध-सी अस्पष्ट ध्वनि सुनाई पड़ती है ।]

अशोक—यह कैसी आवाज़ है सेनापति ?

चण्डगिरी—पाटलीपुत्र के नागरिक राजमहलों पर धावा करने के मन्सूबे बाँध रहे हैं ।

अशोक—सचमुच ?

चण्डगिरी—(ज़रा मुसकरा कर) और असम्भव नहीं कि एक प्रहर के अन्दर-ही-अन्दर राजमहलों में आग लगी हुई नज़र आए । आपको शायद कभी क्रुद्ध जनता से वास्ता नहीं पड़ा महाराज ! मुझे तक्षशिला का अनुभव है ! जनता का क्रोध बिलकुल अन्धा होता है हज़ूर !

अशोक—तुम्हारी क्या राय है चण्डगिरी ?

चण्डगिरी—बस, आपकी आज्ञा की देरी है ।

अशोक—कैसी आज्ञा ?

चण्ड०—आपका इशारा ही काफ़ी है। हमारे वीर सैनिक पाटलीपुत्र में खून की नदियाँ बहा देंगे।

अशोक—(काँप कर) नहीं चण्डगिरी; मैं इस तरह की आज्ञा कदापि नहीं दे सकता। पाटलीपुत्र की जनता को मैं अपने प्राणों से बढ़कर चाहता हूँ।

चण्ड०—मुझे स्पष्ट-भाषण के लिये क्षमा कीजियेगा महाराज ! यदि यही बात थी तो आपने उनके हृदय को ठेस ही क्यों पहुँचाई ?

अशोक—केवल साम्राज्य के हित की ख़ातिर। मुझे विश्वास है कि मैं शीघ्र ही उनके हृदय में अपने प्रति विश्वास उत्पन्न कर सकूँगा।

(इसी समय पुनः वही शोर सुनाई देता है)

चण्ड०—इस शोर को सुनिए महाराज ! यह कम से कम पचास हज़ार क्रुद्ध नागरिकों की सम्मिलित आवाज़ है।

अशोक—(बड़ी उद्विग्नता से) नहीं, नहीं; कदापि नहीं। मैं पाटलीपुत्र के सैनिकों की हत्या करने की आज्ञा कभी किसी भी दशा में नहीं दे सकता।

चण्ड०—और मेरी राय में इसके बिना काम ही नहीं चल सकता। हमारे मार्ग की दोनों बाधाएँ महा-भयंकर हैं।

अशोक—दोनों कौन-सी ?

चण्ड०—एक जनता का क्रोध और दूसरे युवराज।

अशोक—(सहसा बहुत अधिक क्रोधित हो उठता है, परन्तु अपने को सँभाल कर कहता है।) ऐसी बात मैं दूसरी बार नहीं सुनूँगा चण्डगिरी !

[इसी समय अचानक शीला का प्रवेश। शरीर पर वह सिर्फ एक लम्बा सफ़ेद वस्त्र पहने हुए हैं। उसके मुँह पर अत्यधिक शान्त गम्भीरता है। इस शान्त वेश में उस के अनन्त सौन्दर्य से, जैसे सम्पूर्ण सभा-भवन में उजेला-सा हो जाता है।]

अशोक—(चौंक कर) यह कौन ?

[सब लोग स्तब्ध हो चुपचाप बैठे रहते हैं। शीला निकट आकर सहज भाव से अशोक के सन्मुख खड़ी हो जाती है।]

शीला—अशोक !

[अशोक कोई जवाब नहीं देता। वह विस्मय के साथ इस अद्भुत नारी की ओर देखता रह जाता है।]

शीला—अशोक, मैं तुम्हारी भाभी हूँ।

(अशोक खड़ा होकर प्रणाम करता है।)

शीला—बैठ जाओ देवर ! (अशोक बैठ जाता है।)

(इसी समय एक सभासद शीला के लिए भी आसन लाकर रख देता है।)

शीला—नहीं, मैं बहुत थोड़ी देर के लिए यहाँ आई हूँ। मैं खड़ी ही रहूँगी।

अशोक—आप ! आप यहाँ ! इस वेश में ! इस तरह !

शीला—अशोक, मैं एक बड़ी जरूरी बात के लिए तुम्हारे पास आई हूँ।

अशोक—आज्ञा कीजिए राजकुमारी।

शीला—(ज़रा-सा मुसकरा कर) नहीं, मुझे राजकुमारी मत कहो। सिर्फ़ भाभी कहो। तुम्हें मालूम है न, कि सम्राट् तुम्हारे बड़े भाई के विवाह की तारीख़ निश्चित कर गए थे !

अशोक—जी हाँ !

शीला—और वह तारीख़ परसों है।

अशोक—जी !

शीला—तुम्हारे राज्य के इन झगड़ों से मेरे विवाह का तो कोई सम्बन्ध है ही नहीं। यह विवाह परसों होगा ही। तुम्हें इस में कोई आपत्ति तो नहीं है अशोक ?

अशोक—(बहुत अधिक घबरा कर) नहीं, मुझे क्या आपत्ति हो सकती है राजकुमारी !

शीला—धन्यवाद !

(शीला धीरे-धीरे वापस लौट चलती है। मगर शीघ्र ही जैसे कोई भूली बात याद कर वह पुनः अशोक की ओर लौट पड़ती है।)

शीला—अशोक, मेरे पिताजी बहुत अधिक बीमार हैं। मैं कह नहीं सकती कि यह बचेंगे भी या नहीं।

अशोक—आपके पिता आचार्य दीपवर्धन ?

शीला—हाँ, वही। और उनकी बीमारी का कारण तुम्हें मालूम है ?

अशोक—नहीं।

शीला—उन्हें इस मिथ्या बात का भ्रमपूर्ण विश्वास हो आया है कि तुम अपने बड़े भाई की हत्या कर दोगे।

अशोक—(काँप कर लड़खड़ाती हुई आवाज़ में) मैं इतना नीच नहीं हूँ भाभी !

शीला—तो अगर तुम ज़रा उनके पास चल कर उन्हें इस बात का विश्वास दिला सको तो तुम्हारी बड़ी दया होगी।

अशोक—मैं अवश्य उनकी सेवा में उपस्थित होऊँगा।

शीला—और सुनो देवर; मेरे विवाह में धूमधाम बिलकुल नहीं होगी। पुरोहित को छोड़कर सिर्फ़ तुम्हीं

वहाँ आने पाओगे। बहन चित्रा भी नहीं। यह विवाह जेल में जो होगा। (ज़रा-सी मुस्कराहट)

(अशोक प्रस्तर-मूर्त्ति की तरह चुपचाप बैठा रहता है)

शीला—और विवाह के बाद अगर तुम अनुमति दोगे तो हम दोनों काश्मीर चले जाएँगे। अन्यथा पाटलीपुत्र के कारागार का एक कोना ही हम दोनों के लिए काफ़ी होगा।

(अशोक की आँखों में आँसू चमक आते हैं)

शीला—यह क्या देवर! तुम्हारी आँखों में आँसू! ओह, मैं भ्रम में थी। मैं बहुत बड़े भ्रम में थी! मैं तुम्हें पाषाण-हृदय समझती थी। नहीं, तुम्हारे भी हृदय है। आख़िर तुम उन्हीं के छोटे भाई हो न! रोओ नहीं देवर; वह तुमसे ज़रा भी नाराज़ न होंगे। मैं उन्हें अच्छी तरह जानती हूँ। वह तुम्हें क्षमा कर देंगे। तुम्हारे प्रति अपने जी में ज़रा भी मैल न रक्खेंगे। अपने आँसू पोंछ डालो देवर!

[अशोक के सिर पर अपना आशीर्वादभरा हाथ रख कर शीला धीरे-धीरे वापस चली जाती है। उसके चले जाने के बाद भी अनेक क्षणों तक सभा-भवन में सन्नाटा छाया रहता है। इसके बाद जैसे अशोक सहसा नींद से जाग उठता है।]

अशोक—आप सब लोग जाइए। मैं एकान्त चाहता हूँ।

(सब लोग चले जाते हैं। केवल चण्डगिरी वहाँ बना रहता है।)

अशोक—चण्डगिरी, तुम भी जाओ!

(बड़े अनमने भाव से चण्डगिरी धीरे-धीरे चला जाता है।)

अशोक—मेरे हृदय में यह कैसा द्वन्द्व मच रहा है ! यह कैसी अनोखी-सी अनुभूति है। मैं इतना गिर कैसे गया। मैंने अपने भाई को जेल में डाल रक्खा है ! उस भाई को, जिसने सदा मेरी भलाई सोची; सदा मेरी तरफ़दारी की। मुझे स्मरण है, माताजी सुमन को ज्यादा प्यार किया करती थीं। सुमन बड़ा था, उसे रोज़ नई-नई चीज़ें मिलती थीं। परन्तु वह अपना सभी कुछ मुझे दे दिया करता था। मुझे कभी उस की किसी भी विशिष्ट वस्तु को ललचाई हुई निगाह से नहीं देखना पड़ा। ठीक अपनी उसी सहज उदारता के समान सुमन ने आज अपना साम्राज्य भी चुपचाप मेरे हवाले कर दिया ! सुमन ! भाई ! मुझे माफ़ करना।...और मेरी यह भाभी !...यह इस लोक की नहीं है। यह देवी है। अशोक, तुम इतने अधम हो कि अपनी इस माता-स्वरूपा भाभी के चरणों पर सिर झुकाकर रो तक भी नहीं सके। वह देवी तुम्हें क्षमा कर देती तो तुम्हारे सम्पूर्ण पापों का क्षण-भर में प्रायश्चित हो जाता।

(दृश्य बदलता है)

(नागरिकों ने अपने लिए तीन नेताओं का निर्वाचन कर लिया है। तीनों नेता ज़रा ऊँची जगह पर खड़े होकर आपस में भावी कार्य-क्रम के सम्बन्ध में विचार कर रहे हैं। इसी समय राजमहल की दीवार पर शीला दिखाई देती है।)

एक नागरीक—(चिल्ला कर) सम्राज्ञी की जय हो !

[सम्पूर्ण जनता में उत्साह की आँधी उमड़ पड़ती है। इसी समय शीला हाथ हिला कर सबको शान्त हो जाने का इशारा करती है। दो-एक क्षण तक 'चुप रहो !', 'चुप रहो !' की आवाज़ें आती हैं और उसके बाद हज़ारों नागरिकों की उस भीड़ में सब ओर पूरी शान्ति छा जाती है]

शीला—भाइयो, आप क्या चाहते हैं ?

एक नेता—पाटलीपुत्र की जनता सम्राट् सुमन को चाहती है !

सब लोग—(एक साथ) सम्राट् सुमन की जय हो !

शीला—भाइयो, आपके इन उद्गारों के लिए युवराज की ओर से मैं आपके प्रति कृतज्ञता प्रकाशित करती हूँ। मैं आपसे अनुरोध करती हूँ कि मेरी एक बात ज़रा शान्त होकर सुन लीजिए।

नेता—कहिए सम्राज्ञी, हम सब लोग पूरी तरह शान्त रहेंगे।

शीला—अच्छा, पहले मेरे एक प्रश्न का जवाब दीजिए। युवराज को छुड़ाने के लिए आप क्या उपाय प्रयोग में लाएँगे ?

एक नेता—हम राजमहल को धूल में मिला देंगे।

दूसरा नेता—हम पाटलीपुत्र को अत्याचारियों के ख़ून से रँग देंगे !

तीसरा नेता—हम सीमाप्रान्त के उजड्ड सैनिकों की चटनी बना देंगे।

शीला—ज़रा शान्त रहिए। क्या आप समझते हैं कि आपकी इन बातों से युवराज को ख़ुशी होगी ! यदि आपका यही विचार है तो मैं कहूँगी कि आप भ्रम में हैं। युवराज को यदि इस तरह ख़ून की नदियाँ बहानी होतीं, तो याद रखिए आज सीमाप्रान्त के ये अशिक्षित सैनिक यहाँ इस तरह दिखाई न दे रहे होते। तक्षशिला के नागरिको, यह याद रक्खो कि अशोक को युवराज उतना ही प्यार करते हैं, जितना वह तुम्हें, मुझे अथवा अपने आपको

करते हैं। (इसके बाद वह और भी अधिक उत्साह के साथ कहने लगती है) नागरिको, मैं अभी-अभी राजकुमार अशोक से मिल कर आ रही हूँ। अशोक को तुम लोगों ने ग़लत समझा है। मैंने अभी-अभी उनकी आँखों में आँसुओं की चमक देखी है। अशोक ने अभी तक जो कुछ किया है, उस पर वह लज्जित है। उस पर उसे पश्चात्ताप है। मैं आपसे अनुरोध करती हूँ, प्रार्थना करती हूँ कि आप लोग शान्त भाव से अपने घरों को लौट जाइए। मुझे विश्वास है कि परसों तक मैं आपको कोई बहुत अच्छी ख़बर सुना सकूँगी।

एक नेता—सम्राज्ञी की जय हो! परन्तु हमें अशोक पर भरोसा नहीं है।

शीला—भरोसा नहीं है! नागरिको, अगर भाई के प्रति भाई पर भरोसा नहीं किया जा सकता तो फिर संसार में और किस पर विश्वास किया जा सकेगा! नागरिको, मेरे हृदय में दुख का तूफ़ान चल रहा है। मेरे पति जेल में हैं, पिता मृत्युशय्या पर पड़े हैं। मैं आपसे अनुरोध करती हूँ कि अशोक को आप मेरी ज़मानत पर छोड़ दीजिए।

नेता—आपके एक इशारे पर हम सब अपनी जान तक दे सकते हैं। हमें आपकी आज्ञा स्वीकार है सम्राज्ञी।

सब लोग—(एक साथ) सम्राज्ञी की जय हो!

(भीड़ तितर-बितर हो जाती है।)

चौथा दृश्य

स्थान—पाटलीपुत्र।

समय—मध्याह्न।

[राजमहल के एक छोटे-से कमरे में अशोक और चण्डगिरी आमने-सामने खड़े हैं।]

चण्डगिरी—तो मुझे चले जाने की आज्ञा दीजिए महाराज !

अशोक—इतने हताश न होओ चण्डगिरी।

चण्डगिरी—महाराज ! (गला भर आता है)

अशोक—मैंने आज तक कभी तुम्हें इतना उद्विग्न नहीं देखा। तुम्हें यह हो क्या गया है सेनापति ?

चण्डगिरी—महाराज, तक्षशिला के नागरिकों के क्रोध से जिस दिन आपने मेरी रक्षा की थी, उसी दिन मैंने यह प्रतिज्ञा की थी कि अपना शेष जीवन मैं आपकी ही सेवा में अर्पण कर दूँगा। मैंने निश्चय किया था कि आप की ख़ातिर मैं पाप-पुण्य, दुख-सुख, शोक-मोह किसी की परवाह नहीं करूँगा। परन्तु यह मेरा दुर्भाग्य है कि आज यहाँ तक बढ़ आने के बाद, जब यह साफ़ तौर से दिखाई दे रहा है कि आपके लिए लौटने का मार्ग बन्द हो गया है, आप आग के साथ खेल करने को तैयार हो गए हैं। यह मेरा दुर्भाग्य नहीं तो और क्या है नाथ ! मुझे लौट जाने दीजिए महाराज !

अशोक—मैं सब समझता हूँ, चण्डगिरी। किन्तु मैं लाचार हूँ। अपने भाई पर किसी तरह का अत्याचार मैं नहीं कर सकूँगा।

चण्डगिरी—तभी तो मैं आपसे यह अनुरोध कर रहा हूँ कि आप जो चाहें, कीजिए। सिर्फ़ मुझे यहाँ से चले जाने की अनुमति दे दीजिए।

अशोक—मुझे इतने खतरे में छोड़ कर तुम चले जा सकते हो चण्डगिरी ?

चण्ड०—हरगिज़ नहीं मेरे मालिक। जहाँ आपका पसीना गिरेगा, वहाँ मैं अपना खून बहा दूँगा। परन्तु जब आपका मुझ पर विश्वास ही नहीं रहा, जब आपका दृष्टिकोण ही बदल गया है, तब मुझे यहाँ रह कर आपकी इच्छा के मार्ग में काँटे बोने से क्या लाभ ?

अशोक—तुम मेरी सेना के प्रधान सेनापति हो। तुम्हें कौन-सा अधिकार प्राप्त नहीं है !

चण्ड०—तो महाराज, क्या आप मुझे सभी तरह के अधिकार देते हैं ?

अशोक—केवल पाटलीपुत्र की प्रजा पर अत्याचार करने और मेरे भाई के सम्बन्ध में कुछ भी करने के अतिरिक्त तुम सभी कुछ कर सकते हो।

चण्ड०—यह तो वैसी ही बात है, जैसे किसी का साँस बन्द करके उसे जीने की खुली छुट्टी दे दी जाय।

अशोक—पाटलीपुत्र तक्षशिला नहीं है चण्डगिरी ! तुम भूलते हो।

चण्ड०—महाराज, आज साँझ तक पाटलीपुत्र के नागरिक जब राजमहलों को आग लगा देंगे, तब आप जान लेंगे कि चण्डगिरी ने ठीक कहा था। और महाराज, मैं यह कब कहता हूँ कि आप अपने भाई पर अत्याचार

कीजिए। मैं तो सिर्फ़ इतना ही कहता हूँ कि उन पर कड़ा निरीक्षण रखिए और विद्रोहियों को सज़ा दीजिए। इससे अधिक तो मैंने कुछ नहीं कहा।

अशोक—अच्छा सेनापति, तुम चाहते क्या हो?

चण्ड०—(अपनी ज़ेब से एक काग़ज़ निकालकर) इस काग़ज़ पर अपने हस्ताक्षर कर दीजिए महाराज। बस, और कुछ भी नहीं।

अशोक—(पढ़ कर) तुम इतने असीमित अधिकार चाहते हो?

चण्ड०—महाराज, मैं आप से प्रतिज्ञा करता हूँ कि मैं कोई भी बात आपकी आज्ञा के बिना नहीं करूँगा। यह अधिकार मैं केवल इस उद्देश्य से लेना चाहता हूँ कि तक्षशिला के विद्रोहियों को गिरफ़्तार कर के उन्हें यह धमकी दे सकूँ कि मैं चाहे जो कुछ कर सकता हूँ। इससे अधिक कुछ भी नहीं।

[अशोक बड़े अनमने भाव से उस काग़ज़ पर हस्ताक्षर देते हैं। उसी समय बाहर उद्यान में से किसी चील की इल्—ल्—ल् की आवाज़ सुनाई देती है। अशोक चौंक जाते हैं।]

अशोक—यह क्या है?

चण्ड०—कुछ नहीं, कोई पक्षी होगा महाराज!

अशोक—मेरे विश्वास का कोई अनुचित उपयोग न करना चण्डगिरी!

चण्ड०—आप निश्चिन्त रहें मालिक!

(प्रणाम करके प्रस्थान)

पाँचवाँ दृश्य

स्थान—चण्डगिरी का कमरा।

समय—रात।

(चण्डगिरी और उसके दो सहकारी उपस्थित हैं। कमरा अन्दर से बन्द है।)

चण्डगिरी—अगर तुम यह काम कर सके तो तुम्हें मुँह-माँगा इनाम मिलेगा।

सहकारी—मगर शायद सम्राट् को यह बात अभीष्ट नहीं है।

चण्ड०—बेवकूफ़ हुए हो क्या? मेरे पास यह राजाज्ञा मौजूद है। एक सप्ताह तक मैं पाटलीपुत्र नगर में, जो चाहे कर सकता हूँ।

सह०—फिर भी!

चण्ड०—फिर भी क्या? मैंने सम्राट् से पूछ लिया है। उनकी बड़ी प्रबल इच्छा है कि जिस किसी तरह सुमन का झंझट सदा के लिए काट दिया जाय। निश्चिन्त रहो, अगर तुम यह काम कर सके तो उन्हें इस से बड़ी प्रसन्नता होगी।

सह०—मगर युवराज का कसूर क्या है?

चण्ड०—यह पूछना तुम्हारा काम नहीं है। बोलो, तुम यह काम कर सकोगे या नहीं?

(वह सैनिक अपने दूसरे साथी की ओर देखता है दोनों में इशारे ही से कोई निश्चय होता है।)

सह०—जब तक आप युवराज का अपराध नहीं बताएँगे, तब तक मैं यह काम नहीं कर सकूँगा।

चण्ड०—(दूसरे व्यक्ति से) तुम्हारा भी यही निश्चय है?

सह०—जी हाँ !

चण्ड०—शाबाश बहादुरो ! मैं तुम्हारी परीक्षा ले रहा था। जाओ, मैंने देख लिया। तक्षशिला के सैनिक वीर हैं, जल्लाद नहीं। जाओ।

(दोनों सैनिकों का प्रस्थान)

चण्ड०—(आप-ही-आप) इस निष्ठुर कार्य के लिए मैं किसे तैयार करूँ ? (सोचता है; उसके बाद सहसा प्रसन्न होकर) हाँ, मुझे सूझ गया। मेरा वह कन्दहार का गूँगा पहाड़ी सेवक ! (आवाज़ देकर) कोई है ?

(एक सैनिक का प्रवेश)

सैनिक—हजूर !

चण्ड०—घुड़साल में से गूँगे को बुला लाओ।

सैनिक—जो आज्ञा।

(प्रस्थान)

चण्ड०—यह गूँगा पहाड़ी किसी अजीब धात का बना है। उसके कदावर, हट्टे-कट्टे देह में मानों आत्मा है ही नहीं। ठीक मशीन की तरह से काम करता है। उसमें न हृदय है, न मस्तिष्क है, न चेतना।

(गूँगे का प्रवेश। वह आते ही प्रणाम करके मुसकराने लगता है)

चण्ड—एक काम करोगे ?

गूँगा—(इशारे से) कहिए।

चण्ड०—एक आदमी का सिर काटना होगा।

गूँगा—(इशारे से) अवश्य।

चण्ड०—परसों सुबह-सुबह मेरे पास आजाना।

गूँगा—(इशारे से) जी हाँ।

चण्ड०—जाओ।

(गूँगे का प्रस्थान)

चण्ड०—चलूँ, जरा पहरे की भी फ़िक्र करूँ।

(प्रस्थान)

छठा दृश्य

स्थान—कारागार।

समय—प्रभात।

[बाहर प्रचण्ड वर्षा के साथ-साथ सनसनाती हुई तेज़ हवा चल रही है। प्रकृति पूर्णरूप से विक्षुब्ध हो उठी है। सभी ओर से साँय-साँय का तेज़ शब्द सुनाई पड़ रहा है। युवराज सुमन अपनी कोठरी में एक खम्बे के सहारे खड़े होकर खिड़की की राह से बाहर का यह तूफ़ान देख रहे हैं।]

सुमन—ओह, कैसे ज़ोरों का तूफ़ान है। मालूम होता है, जैसे सभी कुछ बह जायगा, सभी कुछ उड़ जायगा। बादलो! बरसो, और इतना बरसो कि इस धरती पर से मनुष्य की कलुषतापूर्ण सृष्टि ही धुल जाय। हवा! इतनी तेज़ी से चल कि यहाँ किसी का निशान भी बाकी न बचे। सभी कुछ उड़ जाय।...आज चौथा दिन है। मेरी खोज-ख़बर लेने कोई भी नहीं आया। सारी दुनिया मुझे भूल गई। जैसे इस जगत् में मेरा कोई स्थान ही न था। मनुष्य कितना अहंकार करता है। समझता है, मैं न रहूँगा तो यह हो जायगा, वह हो जायगा। मगर मनुष्य तो सचमुच चला जाता है, और संसार का चक्र ठीक उसी तरह चलता रहता है।...अशोक! भाई अशोक! तुम कितने

निठुर हो। मुझे पूछने तक, एक बार देखने तक भी तो नहीं आए !...मैंने चण्डगिरी से कहा था कि अशोक से यहाँ आने को कह देना। फिर भी अशोक नहीं आया। वह अब क्यों आने लगा। अब वह मगध महा-साम्राज्य का अधीश्वर है। और मैं ? मैं एक साधारण, उपेक्षित कैदी हूँ ! (सहसा सुमन की आँखों में आँसू भर आते हैं। परन्तु उसी समय वह सँभल जाता है।) सुमन तुम्हारे हृदय की यह कैसी दुर्बलता है। सँभल जाओ। तुम कारागार में अपनी इच्छा से आए हो। इस तरह चुपचाप आँसू बहाने के लिए नहीं आए। (सहसा उसका उत्साह बहुत बढ़ जाता है, और वह उठ कर पिंजरे में बन्द शेर की तरह टहलने लगता है।) मैं अगर चाहता तो क्या नहीं कर सकता था। आज भी !—मुझे विश्वास है कि आज भी पाटलीपुत्र के ६ लाख नागरिक मेरे एक इशारे पर अपना सर्वस्व न्यौछावर करने को तैयार हो जाएँगे। सुमन ! हाँ, हाँ, सचमुच मैं सुमन हूँ। मैं सम्राट् बिन्दुसार का सबसे बड़ा पुत्र हूँ। मेरी रगों में महान् चन्द्रगुप्त मौर्य का खून गति कर रहा है। मेरे लिए दुख, शोक, चिन्ता, निराशा किसी भी चीज़ की सत्ता ही नहीं है।

[सहसा द्वार पर शीला का प्रवेश। उसके हाथ में फूलों की एक माला है। साथ में एक पुरोहित हैं, जिन्होंने यज्ञ का कुछ सामान सँभाला हुआ है। शीला के पास राजाज्ञा मौजूद है, वह पुरोहित के साथ कारागार के अन्दर चली आती है। सुमन एक क्षण तक अवाक् खड़ा रह जाता है।]

सुमन—(सहसा आगे बढ़ कर) शीला ! शीला ! हे प्रभो क्या यह सपना है ! अगर यह सपना भी है तो मेरा यह सुख-स्वप्न शीघ्र न तोड़ देना मेरे ईश्वर !...शीला !

शीला—प्राणनाथ !

सुमन—तुम, तुम, क्या सचमुच तुम्हीं हो !

शीला—हाँ, मेरे देव !

सुमन—तुम यहाँ कैसे आईं ?

शीला—अशोक से अनुमति लेकर।

सुमन—यह कैसी अनहोनी-सी बात है !

शीला—आपको क्या याद नहीं रहा नाथ ! आज तो १६ श्रावण है।

सुमन—मुझे कुछ भी याद नहीं रहा शीला ! इन चार ही दिनों में मैं पिछली सभी बातें भूल गया। मालूम होता है, जैसे मेरी सारी आयु जेल में ही कटी हो !

शीला—पिछला सभी कुछ भुला दीजिए प्राणनाथ ! इन चार दिनों को भी भुला दीजिए। आज से हमारे नए जीवन का प्रारम्भ है।

सुमन—मेरा इतना सौभाग्य ! विश्वास नहीं होता शीला ! क्या कभी यह भी सम्भव है ! हे प्रभो ! तुम क्या सचमुच इतने दयापूर्ण हो !

(शीला आगे बढ़ कर अपने हाथ की माला सुमन के गले में डाल देती है)

शीला—(घुटने टेक कर) भगवान् को प्रणाम कीजिए देव !

[मन्त्रचालित की तरह सुमन घुटने टेक देता है, उसके दोनों हाथ जुड़ जाते हैं और आँखें ऊपर की ओर उठ जाती हैं।]

शीला—प्रभो, हमें शक्ति दीजिए कि हम लोग सभी कुछ सहन कर सकें !

[शीला सुमन की ओर देखती है। उसे दिखाई देता है कि सुमन चुप है, और उसकी आँखों से दो बूँद आँसू उसके कपोलों को भिगोते हुए धीरे-धीरे नीचे की ओर खिसक रहे हैं।]

शीला—(सुमन का हाथ पकड़कर) नाथ ! अब खड़े हो जाइए !

(सुमन मन्त्रचालित की तरह उठ कर खड़ा हो जाता है ।)

शीला—(पुरोहित से) आप यज्ञ की तैयारी कीजिए पुरोहित जी !

(पुरोहित अपनी तैयारियों में लग जाता है ।)

सुमन—(बड़े ही धीमे स्वर में) तुम अच्छी तरह से तो हो शीला ?

शीला—(फीकी-सी मुसकराहट के साथ) खूब अच्छी तरह ।

सुमन—मुझे अभी तक विश्वास नहीं होता कि मैं इतना सौभाग्यशाली हो सकता हूँ ।

शीला—पिछली सभी बातें भुला दीजिए नाथ !

सुमन—क्या अशोक मेरा यह सुख सहन कर सकेगा ?

शीला—अशोक ? अशोक को क्षमा कर दीजिए मेरे नाथ ! मैं अपने देवर से अच्छी तरह परिचय प्राप्त कर आई हूँ । उसे इस विवाह में शामिल होने के लिये निमन्त्रण भी दे आई हूँ । आपको मुँह दिखाते उसे लज्जा आती है । इसी से इतने दिनों तक चाहते हुए भी वह आ नहीं सका । नहीं तो वह इतना नृशंस नहीं है नाथ ! थोड़ी ही देर में वह यहाँ आता ही होगा । मेरा विचार आज शाम को यहाँ आने का था, परन्तु सुबह-सुबह इस तूफ़ान को देख कर मुझे न जाने क्यों, कुछ भय-सा प्रतीत हुआ और यों ही मेरे जी में आया कि मुझे इसी समय आपके पास पहुँच जाना चाहिए । मैं अशोक के पास इस बात की सूचना भेज कर यहाँ चली आई । वह आता ही होगा प्राणनाथ !

पुरोहित—आप लोग इधर आने की कृपा कीजिए ।

[सुमन शीला का हाथ पकड़ कर धीरे-धीरे यज्ञकुण्ड की तरफ़ बढ़ता है। उसी समय गूँगे के साथ चण्डगिरी का प्रवेश। चण्डगिरी शीला को वहाँ उपस्थित देख कर चौंक जाता है ।]

चण्ड०—(स्वगत) इन्होंने तो सायंकाल को यहाँ आना था। यह क्या बात हो गई ! (शीघ्रता से आगे बढ़कर पुरोहित से) पण्डित जी महाराज ! मैं कहता हूँ भलेमानसों की तरह उठ कर इधर चले आइए।

[सुमन और शीला सहसा चौंक कर खड़े हो जाते हैं और पुरोहित महाराज घबरा कर अपने आसन से उठ जाते हैं।]

सुमन—(बड़े क्रोध के साथ) चण्डगिरी !

(चण्डगिरी झुककर प्रणाम करता है।)

सुमन—यह तुम्हारी कैसी हरकत है, चण्डगिरी ?

चण्ड०—यह महाराजा अशोक की आज्ञा है राजकुमार !

सुमन—कैसी आज्ञा ?

चण्ड०—(दो काग़ज़ आगे बढ़ा कर) यह लीजिए हज़ूर !

[सुमन दोनों उन काग़ज़ों को पढ़कर काँपते हुए हाथों से चुपचाप शीला की ओर बढ़ा देता है।]

शीला—(चौंक कर) हैं ! युवराज के वध की आज्ञा ! नहीं; नहीं; हरगिज़ नहीं ! यह धोखेबाज़ी है। अशोक ऐसी आज्ञा कभी नहीं दे सकता। (शीला का चेहरा सफ़ेद पड़ जाता है। उसका सारा शरीर लकवे के बीमार की तरह काँपने लगता है और बोलते-बोलते कण्ठावरोध हो जाता है।)

चण्ड०—नहीं राजकुमारी, यह सम्राट् अशोक का आदेश है। वह भाई की हत्या की आज्ञा देते हुए घबराते

थे, इसी से उन्होंने यह नया ढंग निकाला है। मुझे सभी तरह के अधिकार देकर मुझ से ही उन्होंने राजकुमार के लिए प्राणदण्ड की व्यवस्था लिखवा ली है।

[सुमन अवाक्-से खड़े रह जाते हैं। जैसे वह पत्थर की मूर्त्ति हों। शीला बड़ी शीघ्रता से आगे बढ़ कर चण्डगिरी के सन्मुख घुटने टेक कर बैठ जाती है और गिड़गिड़ा कर कहती है]

शीला—दया करो ! मैं तुमसे युवराज के प्राणों की भीख माँगती हूँ। चण्डगिरी, मुझ अभागिनी की यह एक प्रार्थना स्वीकार कर लो। कुछ देर के लिए ठहर जाओ। मुझे अशोक के पास हो आने दो। वह आते ही होंगे। मैं उन्हें समझा लूँगी। बस, चण्डगिरी ! मेरी इतनी-सी बात मान लो। इसके बदले मैं आजन्म तुम्हारी गुलाम बनी रहूँगी। तुम जो कहोगे, करूँगी। बोलो, बोलो, चण्डगिरी ! बोलो; मेरी वह प्रार्थना स्वीकार करते हो या नहीं ?

चण्ड०—(लड़खड़ाती-सी आवाज़ में) अच्छा, आप सम्राट् के पास हो आइए।

शीला—परमात्मा तुम्हें इसका फल देंगे ! मैं अभी लौट कर आई। (तीर की तेज़ से भाग कर निकल जाती है।)

(दृश्य बदलता है।)

शीला—(आँधी और वर्षा में बेहताशा दौड़ते हुए चीखती-सी आवाज़ में) अशोक ! अशोक !! अशोक !!!

[शीला की आवाज़ तूफ़ान की आवाज़ में विलीन हो जाती है। वर्षा की बौछार से उसका सारा शरीर भीग जाता है और वस्त्र कीचड़ से लथपथ हो जाते हैं। फिर भी वह सब जगह चिल्लाती हुई घूम-फिर रही है।]

शीला—(चीखती हुई और अत्यधिक भयभीत स्वर में) अशोक ! अशोक ! तुम कहाँ हो अशोक !!!

[अशोक कहीं दिखाई नहीं देता। तब शीला बड़ी शीघ्रता से कारागार की ओर लौट पड़ती है।)

(दृश्य परिवर्तन)

[शीला कारागार में अभी-अभी पहुँची है। वहाँ पूरा सन्नाटा है। शीला की निगाह सब से पहले अशोक पर पड़ती है, जो एक तरफ़ बैठ कर बच्चों की तरह फूट-फूट कर रो रहा है। शीला का दिल धड़क जाता है, तो भी अनायास हीं उसके मुँह से निकलता है।]

शीला— अशोक ! अशोक ! तुम अब तक कहाँ थे ?

[अशोक को मानो कुछ भी सुनाई नहीं देता। उसी समय शीला की निगाह सुमन के निर्जीव शरीर पर पड़ती है, जो खून से तर है। लाश का सिर्फ़ मुँह ही खुला हुआ है, बाकी सम्पूर्ण शरीर अशोक के रेशमी दुपट्टे से ढका पड़ा है। शीला स्थल पर फेंकी गई मछली के समान तड़प उठती है। इसी समय अशोक की निगाह शीला पर पड़ती है। वह अत्यधिक भयभीत हो जाता है।]

शीला—(अशोक की आँखों से अपनी आँखें मिला कर) खूनी ! चाण्डाल ! धोखेबाज़...ओह खून !...खून !...युवराज !... प्राणनाथ !

[शीला का कण्ठावरोध हो जाता है और वह मूर्छित हो, लड़खड़ा कर गिर पड़ती है। एक कोने में दुबके हुए पण्डित जी बहुत ही त्रस्तभाव से गुनगुना रहे हैं]

पण्डित जी—हरे मुरारे ! मधु कैटभारे !!
गोपाल गोविन्द मुकन्द शौरे !!!

सातवाँ दृश्य

स्थान—तक्षशिला।

समय—सूर्यास्त।

[राजमहल के मन्दिर में आरती के बाद एक साधु गा रहा है। रानी तिषी बड़े मनोयोग से उसका गीत सुन रही हैं।]

गीत

तुम्हें कर याद जगदीश्वर! हुआ जग हर्ष दीवाना
किसी ने किन्तु महिमा का न पूरा भेद पहिचाना।
असीमित शक्ति के स्वामी! तुम्हारी कामना अनुपम
खिलाया फूल जगती का तुम्हीं ने नाथ! मनमाना।
बने हम मुग्ध अचरज से गगन में देख कुछ तारे
न जाने दूर तक बिखरे कहाँ ब्रह्माण्ड यह नाना।
नये ही रत्न-धन देते सदा से भूमि-गिरि-सागर
नहीं आसान वैभव की तुम्हारे थाह कुछ पाना।
निराशा के दुखद पल में न जब होता जगत साथी
भुलाया जा नहीं सकता तुम्हारा प्रेम से आना।
बसाने को तुम्हें जग ने महल मीनार चुन डाले
हृदय का दिव्य मन्दिर है तुम्हारा घर न यह जाना।
उसी मेरे विमल मन में जगाने ज्ञान का दीपक
कृपा कर नाथ! पल भर को झलक अपनी दिखा जाना।

(गीत के बाद तिषी अपने हाथों से प्रसाद वितीर्ण करती है।)

तिषी—आप सब लोग जाइए। पुजारी जी, आप भी जाइए।

[सबका प्रस्थान। मन्दिर में तिषी अकेली रह जाती है। मूर्ति के सन्मुख घी के अनेक दीपक टिमटिमा रहे हैं। तिषी हाथ जोड़ कर मूर्त्ति के सन्मुख बैठ जाती है।]

तिषी—इस दुखिया की पुकार कब सुनोगे नाथ! मेरे प्राणनाथ मेरे अनुरोध को ठुकरा कर पाटलीपुत्र चले गए हैं। आज एक महीना बीत गया, मुझे उनका कोई समाचार नहीं मिला। प्रभो, इस दुखिया पर अपनी कृपा रखना। मुझे नींद में सदा भयङ्कर-भयङ्कर सपने आते रहते हैं। मेरे स्वामी, जेठ, देवर, ननद, भाभी—सबकी रक्षा करना हे नाथ! उनके भाग्य में यदि कोई दुख लिखा हो तो वह दुख मुझे दे दो जगदीश्वर!

[तिषी मूर्त्ति के सन्मुख सिर झुकाती है। सिर उठाते ही उसकी दृष्टि मन्दिर के द्वार पर खड़ी एक परिचारिका पर पड़ती है।]

तिषी—कौन है?

परि०—मैं हूँ महारानी!

तिषी—क्या बात है?

परि०—पाटलीपुत्र से एक दूत आया है।

तिषी—(प्रसन्न होकर) पाटलीपुत्र से दूत! उसे शीघ्रता से यहाँ ले आओ।

(परिचारिका बाहर जाती है और बहुत शीघ्र दूत के साथ वापस लौट आती है।)

दूत—जय हो साम्राज्ञी!

तिषी—कहो, जल्दी कहो, क्या समाचार है।

दूत—सम्राट् अशोक सकुशल हैं। उन्होंने मुझे साम्राज्ञी को राजधानी में ले आने के लिए भेजा है।

तिषी—(धड़कते दिल से) सम्राट् अशोक ? और मैं साम्राज्ञी ! यह कैसा अनर्थ है ! दूत, कहो युवराज सुमन तो सकुशल हैं न !

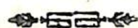
दूत—मुझे नहीं मालूम साम्राज्ञी। मुझे और कोई भी समाचार मालूम नहीं।

तिषी—अच्छा जाओ, कल प्रातःकाल प्रस्थान कर दिया जायगा।

(दूत का प्रस्थान)

[सहसा रानी की आँखों में आँसू भर आते हैं और वह भगवान् की मूर्ति के सन्मुख पुनः अपना सिर झुका देती है।]

पटाक्षेप



चौथा अंक

पहला दृश्य

स्थान—वैशाली।

समय—मध्याह्नोत्तर।

[नगर के राजमार्ग पर अस्तव्यस्त वेश में शीला और चित्रा खड़ी हैं। उन्हें घेर कर बहुत से राह चलते नागरिक जमा हो रहे हैं। थोड़ी ही देर में भीड़ काफ़ी बढ़ जाती है।]

चित्रा—(ज़रा ऊँचे स्थान पर खड़े होकर) वैशाली के नागरिको! हम दोनों परमात्मा का एक सन्देश लेकर तुम्हारे पास आए हैं।

पहला ना०—ये कौन हैं ?

दूसरा ना०—मुसाफ़िर।

तीसरा ना०—नहीं, भिक्षुणियाँ।

चौथा ना०—आप दोनों कौन हैं ?

चित्रा—हमारा परिचय पूछते हो ? मैं सम्राट् बिन्दुसार की पुत्री हूँ। मेरा नाम चित्रा है। और ये ? इनका परिचय तुम अभी मुझसे मत पूछो।

[सभी नागरिक विस्मयपूर्ण आदर के साथ उन दोनों की ओर देखने लगते हैं।]

चित्रा—भाइयो, मैं आप लोगों से एक भीख माँगने आई हूँ।

अनेक नागरिक—कहिए; हम आपकी बात ध्यान से सुनेंगे।

चित्रा—मगध-साम्राज्य के नागरिको, तुम्हें मालूम है कि एक खूनी और लुटेरा व्यक्ति आज तुम्हारा सम्राट् बना हुआ है! मुझे यह कहते लज्जा आती है कि वह खूनी मेरा अपना सगा भाई है। मगर भाइयो, मैं उसकी बहन होकर भी कर्तव्य की पुकार के सम्मुख सभी कुछ त्याग कर निकल खड़ी हुई हूँ। क्या तुम भी अपने कर्तव्य का पालन कर सकोगे?

(नागरिक भयभीत भाव से चुपचाप खड़े रहते हैं।)

चित्रा—(ज़रा ऊँची आवाज़ में) तो क्या मैं समझ लूँ कि वैशाली के जगत्प्रसिद्ध वीर आज एक अत्याचारी दानव के डर से अपने कर्तव्य का ज्ञान भूल गए हैं। वे कायर बन गए हैं!

एक ना०—किन्तु इस विद्रोह से लाभ क्या होगा राजकुमारी?

चित्रा—लाभ की बात पूछते हो? नागरिको, ज़रा सोचकर देखो तो। आनेवाली सन्तति तुम्हारे सम्बन्ध में क्या कहेगी। वह यही तो कहेगी न कि एक नृशंस राक्षस ने मगध-साम्राज्य के महाराजाधिराज की हत्या कर दी, वह स्वयं उस साम्राज्य का मालिक बन बैठा और साम्राज्य की करोड़ों प्रजा ने उसके विरुद्ध आवाज़ तक भी न उठाई। भाइयो, तुम मनुष्य हो, पशु नहीं हो। तुम क्षत्रिय हो, नपुंसक नहीं हो। तुम मगध-साम्राज्य के नागरिक हो, दास नहीं हो!

दूसरा ना०—मगर यह विद्रोह किया किसके लिए जाय राजकुमारी? युवराज तो अब रहे नहीं।

चित्रा—साम्राज्य के उत्तराधिकारी की बात पूछते हो?

हाँ, इस बात का जवाब मैं दूँगी। तुम्हारे सम्राट् चले गए। मगर उनकी विवाहिता वधू, तुम्हारी साम्राज्ञी महाराज-पत्नी शीला आज भी मौजूद हैं, और तुम्हारी वह साम्राज्ञी (शीला की ओर इंगित कर) राह के नदी-नालों को पैदल लाँघ कर इस दुरवस्था में स्वयं तुम्हारी शरण माँगने आई हैं। (कण्ठावरोध)

[नागरिकों में उत्साह और क्रोध की लहर-सी छा जाती है।
अनेक नागरिक शीला को इस वेश में देखकर रोने लगते हैं।]

शीला—(ज़रा ऊँचाई पर खड़े होकर काँपते स्वर में) भाइयो, मैं आज साम्राज्ञी नहीं हूँ, राह की भिखारिन हूँ, अनाथा हूँ, विधवा हूँ। मेरे पति और पिता दोनों एक साथ चल बसे। तुम्हें छोड़कर मेरा और कोई भी नहीं। मैं साम्राज्य नहीं चाहती थी। मैं सिर्फ़ उन्हें, अपने हृदय-देवता को चाहती थी। मैंने कहा था कि मैं सारी उम्र उनकी चरण-सेवा करते हुए जेल में ही काट देने को भी सहर्ष तैयार हूँ। मगर तुम्हारे पापी राजा अशोक से इतना भी नहीं सहा गया। मेरे देखते-देखते मेरे देवता का, तुम्हारे हृदय-सम्राट् का, धोखेबाज़ी और नृशंसता के साथ वध कर दिया गया। नागरिको, भाइयो, क्या तुम यह अत्याचार, यह अनाचार चुपचाप सह लोगे ? (आँखों में आँसू भर आते हैं।)

सभी नागरिक—(एक साथ) कदापि नहीं।

चित्रा—तो बस भाइयो, आज माता स्वयं अपने पुत्रों से सहायता की भीख माँगने आई है। अपने महलों और छप्परों का मोह त्याग कर माता का अनुसरण करो। आने वाली सन्तान गर्व के साथ कहेगी, हमारे पुरखा वीर थे,

कायर नहीं थे। बोलो, वैशाली से कितने नागरिक हमारा साथ देंगे ?

सभी नाग०—हम सभी आप के साथ चलेंगे।

चित्रा—शाबास वीरो! तुमने सिद्ध कर दिया कि मगध-साम्राज्य आज भी पुरुषत्व-विहीन नहीं हुआ।

१ नाग०—हम साम्राज्ञी की सेवा में अपना सर्वस्व अर्पण कर देंगे।

२ नाग०—हम अत्याचारी अशोक के विरुद्ध विद्रोह करेंगे।

३ नाग०—अशोक का नाश हो!

सभी नाग०—अशोक का नाश हो!

४ नाग०—साम्राज्ञी चिरजीवी हों!

सभी नाग०—साम्राज्ञी चिरजीवी हों!

चित्रा—तो भाइयो, आओ। मेरे पीछे-पीछे आओ। मैं सम्पूर्ण उत्तरा-खण्ड में वह आग सुलगा दूँगी, कि एक तो क्या सौ अशोक मिलकर भी उसे नहीं बुझा सकेंगे।

सभी—चलो-चलो।

(चित्रा और शीला के पीछे-पीछे सभी का प्रस्थान।)

दूसरा दृश्य

स्थान—आचार्य उपगुप्त का आश्रम।

समय—प्रभात।

[आचार्य उपगुप्त अपनी कुटिया के द्वार पर गम्भीर मुद्रा धारण किए बैठे हैं। उनके सम्मुख उनका प्रधान शिष्य शाकटायन खड़ा है।]

शाकटायन—वे लोग आज ही रात को वहाँ से कूच कर जाएँगे।

उपगुप्त—तुमने स्वयं उन्हें देखा है क्या ?

शाक०—जी हाँ।

उपगुप्त—उनके साथ इस समय कितने व्यक्ति होंगे ?

शाक०—कम-से कम पच्चीस हज़ार।

उप०—सचमुच !

शाक०—सचमुच गुरुजी। राजकुमारी शीला और चित्रा दोनों में कुछ विचित्र तेज-सा आ गया है भगवन् ! वे जहाँ भी जाती हैं, सम्पूर्ण नागरिक अपने सब काम-काज छोड़कर उनके साथ हो लेते हैं। मैंने जनता की इस असंगठित-सी सेना में लँगड़े और लूले भी देखे हैं। अपाहिज भी देखे हैं। सम्पूर्ण वैशाली-प्रान्त में एक भी नागरिक ऐसा नहीं, जिसने राजकुमारियों की पुकार तो सुनी हो और वह सम्राट् से बदला लेने के लिए विचलित न हो उठा हो। नागरिकों में असाधारण जोश फैल गया है भगवन् !

उप०—वे लोग अपाहिजों को क्यों अपने साथ लिए जा रहे हैं शाकटायन ?

शाक०—इसका अभिप्राय यह है गुरु जी, कि जनता जब इन अपाहिजों में भी अशोक के खिलाफ़ इतना उत्साह देखती है, तो वह इस विद्रोह में और भी अधिक अनुभूति के साथ सम्मिलित होती है।

उप०—यह बात सचमुच अभाग्यपूर्ण है। व्यर्थ ही देश भर में खून की नदियाँ बहेंगी। युवराज सुमन तो रहे नहीं, फिर इस तरह व्यर्थ का रक्तपात करने से क्या लाभ ?

शाक०—जब सम्राट् की अपनी सगी बहन और युवराज सुमन की वाग्दत्ता पत्नी—दोनों मिल कर इस विद्रोह का

संचालन कर रही हैं, तब इस तरह के सवाल किसी के मन में पैदा ही नहीं हो सकते।

उप०—तुम ठीक कहते हो शाकटायन ! मुझे राजकुमारी शीला के पास ले चल सकोगे ? आचार्य दीपवर्धन मेरे घनिष्ट मित्र थे। जरा उनकी कन्या को देखूँ तो !

शाक०—किस समय चलना होगा गुरुजी !

उप०—इसी समय।

शाक०—मैं अभी तैयार होकर आया गुरुजी !

(प्रस्थान)

(दृश्य बदलता है)

[आम्र के एक विशाल उद्यान में, एक घने वृक्ष की छाया में विरह की मूर्त्त-स्वरूप-सी चुपचाप बैठी शीला शून्य-दृष्टि से ऊपर की ओर ताक रही है। आम्रवन में हजारों आदमी जमा हैं। सब लोग अपने भोजन की तैयारियों में व्यस्त हैं। कुछ दूरी पर चित्रा दो-एक नागरिक नेताओं से बातें कर रही है। इसी समय आचार्य उपगुप्त का प्रवेश।]

उप०—(निकट आकर) आप ही का नाम कुमारी शीला है !

[शीला चौंक कर उपगुप्त की ओर देखती है। सामने एक बौद्धभिक्षु को पाकर वह श्रद्धा सहित नमस्कार करती है।]

शीला—जी हाँ, मेरा ही नाम शीला है।

उप०—भगवान् बुद्ध तुम्हें शान्ति दें बेटी !

शीला—(सहसा खड़ी होकर) आप कौन हैं, संन्यासिन् ! आपकी वाणी में जैसे अमृत भरा है। आपके इस आशीर्वाद ने मेरे दग्ध हृदय को चन्दन की-सी शीतलता पहुँचाई है। आप कौन हैं ?

उप०—मेरा नाम उपगुप्त है बेटी !

शीला—पिताजी से मैं बहुत बार आप का ज़िक्र सुन चुकी हूँ भगवन् !

चित्रा—(निकट आकर) आचार्य उपगुप्त को मेरा प्रणाम हो !

उप०—तुम्हीं राजकुमारी चित्रा हो ?

चित्रा—जी हाँ। हमारा यह परम-सौभाग्य है कि हम आपके दर्शन कर सकीं।

उप०—मेरा आश्रम यहाँ से निकट ही है राजकुमारी। मैं कुमारी शीला को अपने यहाँ आने के लिए निमन्त्रण देने आया हूँ।

चित्रा—मगर हम लोग तो यहाँ से शीघ्र ही रवाना होने वाले हैं आचार्य !

उप०—मेरे अनुरोध से क्या तुम लोग यहाँ दो-चार दिन और नहीं ठहर सकोगे ?

चित्रा—जैसे साम्राज्ञी की आज्ञा हो।

उप०—शीला ! बेटी ! मेरा निमन्त्रण स्वीकार नहीं करोगी ? तुम्हारे पिता आचार्य दीपवर्धन मेरे बचपन के मित्र थे। वह मुझे भाई कहकर पुकारा करते थे।

(शीला चित्रा की ओर देखती है।)

चित्रा—आचार्य, शीला दिन-प्रति-दिन कमजोर होती जा रही है। मैं चाहती थी कि किसी अच्छे चिकित्सक से इसकी परीक्षा करवाऊँ। सुना है, आपके आश्रम में पहुँच कर असाध्य-से-असाध्य रोगी भी रोगमुक्त हो जाते हैं। तब तीन दिनों के लिए शीला को आप अपने आश्रम में ले जाइए

आचार्य जी ! हम लोग इतने समय तक यहाँ और सैन्य संग्रह करते रहेंगे।

शीला—(चित्रा से) बहन ! मुझे ऐसा अनुभव हो रहा है, जैसे आचार्य उपगुप्त के रूप में मैंने अपने पिताजी को पुनः पा लिया ! इतनी करुणामयी और इतनी दयापूर्ण दृष्टि तो मैंने और किसी की नहीं देखी। (आँखों में आँसू भर आते हैं)

चित्रा—अधीर न होओ बहन !

[आचार्य उपगुप्त शीला के सिर पर हाथ रख कर उसे आशीर्वाद देते हैं और वह उनके चरणों में झुक जाती है।]

तीसरा दृश्य

स्थान—आचार्य उपगुप्त का आश्रम।

समय—साँझ।

(आचार्य उपगुप्त के सम्मुख शीला बैठी है।)

उपगुप्त—पिछली सभी बातें बिलकुल भूल जाओ बेटी !

शीला—मैं बहुत प्रयत्न करती हूँ, किन्तु मुझे सफलता नहीं मिलती भगवन् !

उपगुप्त—भूतकाल की सम्पूर्ण स्मृतियों को एक जगह बन्द करके उस पर ताला लगा दो। फिर उधर झाँक कर देखो भी नहीं। समझ लो कि तुम्हारा जन्म हुए अभी सिर्फ़ तीन ही दिन हुए हैं। यह आश्रम तुम्हारी जन्मभूमि है। मैं तुम्हारा पिता हूँ। इस आश्रम के निवासी तुम्हारे भाई-बहन और बन्धु हैं।

शीला—रह-रह कर मेरे जी में शोक की जो प्रबल आँधी-सी उठ खड़ी होती है, उसे कैसे दमन करूँ पिताजी !

उपगुप्त—मैंने कहा न, कि समझ लो, तुम्हारे कभी कुछ था ही नहीं। वे सब लोग चले गए तो उनके साथ ही साथ वह शीला भी चली गई। वह शीला चली गई, जो लाड़-प्यार करती थी, मान करती थी और शासन करती थी। उसकी जगह एक दूसरी शीला आ गई है, जो उपगुप्त जैसे फ़कीर की बेटी है, सेवा करना जिसका व्रत है और परोपकार जिस की साधना है। जीवन का एक अध्याय समाप्त हो गया। यह दूसरा अध्याय है।

शीला—और मेरे हृदय में प्रतिहिंसा की जो तेज़ ज्वाला भभक उठती है, उसका क्या करूँ भगवन्!

उप०—तुम्हारी इस प्रतिहिंसा प्रवृत्ति का स्वरूप क्या है शीला?

शीला—यही कि जिस व्यक्ति ने छल-कपट से, धोखे-बाज़ी से और नृशंसता से मेरा सर्वस्व हरण कर लिया है, वही व्यक्ति आज मगध-साम्राज्य का भाग्यविधाता बना हुआ है। मेरे जी में आता है कि अपना सर्वस्व होम कर भी यदि मैं उस व्यक्ति का घमण्ड तोड़ सकूँ, उससे बदला ले सकूँ, तो इससे मेरे दग्ध हृदय को शान्ति प्राप्त होगी।

उपगुप्त—शान्ति की यह कल्पना झूठी मृगतृष्णा के समान है बेटी!

शीला—अपने जीको कैसे समझाऊँ, आचार्य?

उप०—इस विश्व में सभी जगह छल, कपट, हत्या और अपहरण हो रहा है। प्रकृति अपने विधान द्वारा प्राणिमात्र को अपहरण का सन्देश दे रही है। यहाँ बलशाली निबल को खा जाता है। बड़े जीवों का आहार छोटे जीव हैं।

बड़ी मछली छोटी मछली को निगल जाती है। साँप और छिपकलियाँ कीड़े-पतंगों को खाकर ज़िन्दा रहते हैं। जहाँ तक जिस का बस चलता है, अपहरण करता है। प्रकृति के इन विधानों से मनुष्य ने भी अपहरण का पाठ पढ़ लिया है। हमारे मनुष्य-समाज में भी धनी ग़रीब को चूसता है, राजा प्रजा के बल पर शक्तिशाली बनता है, ज़मींदार किसानों के अधिकार का अपहरण करता है, विद्वान् मूर्खों को अपना शिकार बनाता है। अपहरण के इस विश्वव्यापी षड्यन्त्र में तुम भी क्या एक पुर्ज़ा बन कर रहना चाहती हो शीला ?

शीला—मैं आपकी बात समझी नहीं गुरुजी !

उप०—अपने को पहचानो बेटी ! तुम चेतन हो, तुम स्वतन्त्र हो, अपने ज्ञान को उद्बुद्ध करो; तुम्हें यह स्पष्ट दिखाई दे जायगा कि छल-कपट और हत्या से भरी इस दुनिया का स्वयं भी एक पुर्ज़ा बन जाने में आनन्द कोई नहीं है। इस तरह हत्या और अपहरण करके व्यक्ति अपने को और भी अधिक छोटा, और भी अधिक कायर, और भी अधिक दुखी बना लेता है। यह मार्ग शान्ति का मार्ग नहीं है शीला ! भगवान् तथागत का उपदेश है कि अपने को दूसरों में पहिचानो; इसी से तुम्हें शान्ति प्राप्त होगी।

शीला—यह किस तरह होगा आचार्य ?

उप०—देखो बेटी, देने में जो सुख है, वह लेने में नहीं है। माता अपने पुत्र के लिए, स्त्री अपने पति के लिए जो स्वार्थत्याग करती है, उससे बढ़कर सुख इस जगत् में और कहाँ मिलेगा। हृदय की जिस कोमलतम अनुभूति का

नाम 'प्रेम' है, वह सिर्फ़ 'देना ही देना' नहीं तो और क्या है ? फिर भी कौन कह सकता है कि प्रेम से बढ़ कर मीठी और सुखपूर्ण अनुभूति इस दुनिया में कोई दूसरी भी है। प्रतिदान की यह प्रवृत्ति मनुष्य को ऊँचा बनाती है। तुम प्रतिहिंसा की बात कहती हो शीला। प्रतिहिंसा किससे ? इस दुनिया में किसका अहंकार अक्षुण्ण बना रहा है। किस मनुष्य के दिल में कोई दर्द नहीं है, कोई टीस नहीं है। इस दुर्बल मनुष्य के प्रति प्रतिहिंसा की भावना रखने का अभिप्राय ही क्या है ! तुम अपने ज्ञान को उद्बुद्ध करने का प्रयत्न करो। तुम्हें यह बात समझ आ जायगी कि इस दुखी दुनिया के घावों में मरहम-पट्टी बन जाने में जो सुख है, वह घाव लगाने में नहीं है। समझीं बेटी ?

शीला—मैं प्रयत्न करूँगी कि आपकी शिक्षाओं के अनुसार आचरण करूँ।

उप०—और देखो शीला ! तुम सुमन को चाहती थीं ?

शीला—यह बात भी क्या बताने की आवश्यकता होगी आचार्य ?

उप०—ठीक है, परन्तु बताओ, तुम्हारे हृदय का वह स्नेहभाव अब किधर है ?

शीला—जब वह ही नहीं रहे !

उप०—सुमन का देह तो सचमुच नहीं रहा बेटी ! मगर उनके प्रति तुम्हारे हृदय की समर्पण-भावना के भाव तो अब भी तुम्हारे भीतर मौजूद हैं। सुमन को तुम खोजना चाहती हो, तो वह दुनिया के दुखी और पीड़ित व्यक्तियों के रूप में तुम्हें दर्शन देंगे। यह कठिन साधना निभा सकोगी

शीला ! यह कर सकोगी तो घट-घट में तुम्हें सुमन से दर्शन होंगे।

शीला—मैं प्रयत्न करूँगी पिताजी !

उप०—भगवान् बुद्ध तुम्हें शान्ति दें।

(कुछ क्षण रुक कर)

मगर शीला, यहाँ आए आज तुम्हें तीन दिन पूरे हो गए। राजकुमारी चित्रा आज तुम्हारी प्रतीक्षा में होंगी।

शीला—मैं अब वहाँ नहीं जाऊँगी। आपके आश्रम को छोड़कर मैं कहीं नहीं जाऊँगी। बहन चित्रा को मैं अभी यह सन्देश भेज देती हूँ कि वह विद्रोह करने का इरादा छोड़ दें और स्वयं पाटलीपुत्र को लौट जायँ मैं यहाँ से और कहीं नहीं जाऊँगी।

उप०—मैं तुम्हें आशीर्वाद देता हूँ बेटी ! तुम्हारा संकल्प पूरा हो और तुम्हें सच्ची शान्ति प्राप्त हो !

चौथा दृश्य

स्थान—कामरूप की उपत्यका का एक गाँव।

समय—मध्याह्न-पूर्व।

[एक हरे-भरे ऊँचे पहाड़ की तराई में भीलों का गाँव बसा हुआ है। गाँव के बाहर स्वच्छ जल की एक झील है। इस झील के किनारे बरगद के एक घने पेड़ की छाया में, राजकुमार तिष्य बहुत-से भील बालकों के बीच बैठा है। भीलों का सरदार भी वहाँ मौजूद है। आस्मान में बादल छाए हुए हैं। झील के पानी में हंस केली कर रहे हैं। वृक्षों के घने झुरमुटों में कहीं अदृश्यरूप से बैठी कोयल कुहुक रही है।]

एक भील बालक—हम सब लोग तुम्हें राजकुमार क्यों कहते हैं ?

तिष्य—मेरे पिता एक राजा थे।

बालक—सचमुच !

दूसरा बालक—ऊँह, हम नहीं मानते। उस दिन तुम ने जो कहानी सुनाई थी, उसके राजकुमार के पास उड़ने वाली एक खड़ाऊँ थी। उस के सिर पर प्रकाश का चक्र बना रहता था। तुम्हारा यह सब कहाँ है ? तुम वह राजकुमार कहाँ हो ! तुम्हारा तो यह नाम है।

तिष्य—ठीक है, मेरा तो बस यह नाम ही है।

तीसरा बालक—आप हमें राजकुमारों की कहानियाँ सुनाया करते हैं, इसी से न आपका नाम राजकुमार पड़ा है।

तिष्य—मगर मुझे यह नाम पसन्द नहीं, मेरा यह नाम बदल दो।

एक भील—नहीं, हमारे राजकुमार आप ही हैं। हम आपको सदा इसी नाम से पुकारेंगे।

सरदार—आपने हमें मनुष्य बनना सिखाया है। आप जब से यहाँ आए हैं, हमारा गाँव सब गाँवों से आगे बढ़ गया है। यहाँ अब बीमारी नहीं फैलती, लोग भूखों नहीं मरते, आपस में नहीं लड़ते। आप हमारे राजकुमार नहीं, हमारे राजा हैं।

(प्रस्थान)

तिष्य—(एक ठण्डी साँस लेकर) परमात्मा राजा किसी को न बनाए।

एक बालक—यह क्यों राजकुमार ?

तिष्य—इस बात को जाने दो। अच्छा, बालको, एक खेल खेलोगे ?

अनेक बालक—जी हाँ, ज़रूर।

एक बालक—पर उस से पहले एक कहानी सुना दीजिए।

तिष्य—अच्छा, मैं तुम्हें एक कहानी सुनाता हूँ। फिर हम सब मिलकर उसी का खेल खेलेंगे।

बालक—हाँ-हाँ, ज़रूर।

तिष्य—एक राजा था।...एक बहुत बड़ा राजा था, इतना बड़ा, जितना और किसी कहानी का नहीं था। उसके तीन लड़के थे। जब वह मरने लगा तो उसने अपने बड़े लड़के को बुला कर कहा कि मैं तो अब चला हूँ। मेरे बाद तुम अपने छोटे भाइयों को अपने पुत्रों के समान समझना। बड़ा भाई राजा के पास था, बाकी दोनों भाई बहुत दूर, परदेश में गए हुए थे। जब राजा मर गया तो बड़े लड़के को बहुत दुख हुआ। उसने अपना दुख हलका करने के लिए अपने दोनों भाइयों को अपने पास बुला भेजा। मँझला भाई परदेश से पहले वापस लौटा। बड़े भाई को जब उसके आने का समाचार मिला तो वह उसका स्वागत करने के लिए महल से बाहर निकला। अपने भाई को देखते ही उसका आलिंगन करने के लिए बड़े भाई ने अपनी बाहुएँ फैला दीं। परन्तु मँझले भाई ने उसी समय फुर्ती के साथ एक छुरा निकाला और अपने बड़े भाई की छाती में भोंक दिया।

अनेक बालक—(भयभीत होकर) ओहो ! उसके बाद ?

तिष्य—बड़ा भाई मर गया और मँझला भाई उसकी जगह राजा बन बैठा ।

एक बालक—राक्षस कहीं का ! फिर ?

तिष्य—सब से छोटा भाई अभी मार्ग में ही था कि उसे यह समाचार मिला । वह घबरा गया, उसे राज्य से ही घृणा हो गई । वह उसी वख़्त जंगलों में भाग गया ।

एक बालक—ओह, बड़ा डरपोक था !

तिष्य—डरपोक क्यों था । वह करता ही क्या ?

एक बालक—अपने भाई से बदला लेता ।

तिष्य—भाई से बदला लेता ! ख़ैर, जाने दो । अब यह खेल शुरू करो । बोलो, राजा कौन बनेगा ?

एक बालक—मैं राजा बनूँगा ?

तिष्य—बड़ा भाई कौन बनेगा ?

दूसरा बालक—मैं बनूँगा ।

तिष्य—मँझला भाई कौन बनेगा ?

(सब बालक चुपचाप बैठे रहते हैं ।)

तिष्य—मँझला भाई बनने को कोई तैयार नहीं ?

तीसरा बालक—वह राक्षस था !

चौथा बालक—अच्छा, आप क्या बनेंगे ?

तिष्य—मैं तीसरा भाई बनूँगा ।

एक बालक—(हँस कर) मगर आप भागेंगे कैसे ?

तिष्य—देख लेना, मैं कितना अच्छा भागता हूँ । अच्छा, मँझला भाई बनने को कोई तैयार नहीं है ?

(सब बालक चुपचाप बैठे रहते हैं)

[इसी समय वर्षा शुरू हो जाती है। सब बालक हू-हा करते हुए भाग जाते हैं। तिष्य भी उठ खड़ा होता है और उस वर्षा में ही कुछ दूरी पर जाकर झील के किनारे अकेला खड़ा हो जाता है।]

तिष्य—कितना सुन्दर दृश्य है। बादलों से घिरा यह ऊँचा पहाड़ कितना सुहावना जान पड़ता है। झील के इस शान्त और स्वच्छ जल पर वर्षा की ये नन्हीं-नन्हीं बूँदें इस तरह पड़ रही हैं, जैसे कोई अदृश्य हाथ एक चिकने-से समतल विशाल स्तर पर सैकड़ों-हज़ारों छोटी-छोटी कीलें एक साथ जड़ रहा हो। और अपने पंख फैला कर इधर-उधर तैरते हुए ये हंस तो जीवित कला के समान जान पड़ते हैं। सब ओर सन्नाटा है, शान्ति है, व्यवस्था है और सुन्दरता है।

...और मेरा भाई अशोक! वह सचमुच राक्षस है! अशोक, तुमने मुझे मनुष्य से घृणा करना सिखा दिया था, परन्तु इन भीलों ने पुनः मेरे हृदय में यह धारणा बना दी है कि मनुष्य स्वभाव से सच्चा, निष्कपट और उदार-हृदय है।... इन्हें हम असभ्य कहते हैं! हमारी सभ्यता का आधार ही छल, कपट और दम्भ जो है। हृदय की सरलता और भावुकता को कम करते जाने का नाम ही सभ्यता नहीं तो और क्या है!

......और मैं यहाँ कहाँ? कोई नहीं जानता कि राजकुमार तिष्य अब भी जिन्दा है! अच्छा है, मैं इसी में खुश हूँ। इन लोगों का राजकुमार बन कर रहने में सचमुच आनन्द है। नियति! भाग्य! इसे और क्या कहूँ! मगर वह कापालिक! वह अजीब व्यक्ति था। उसने जो कुछ कहा,

सब सच निकला। भाग्य की बात है कि मेरा मन्त्री भी उस दिन से ठीक साठवें दिन ही मरा !

[सहसा वर्षा बड़े ज़ोरों से पड़ने लगती है। तिष्य को दूर से एक अस्पष्ट-सी आवाज़ सुनाई पड़ती है।]

सरदार—(नैपथ्य से) राजकुमार ! तुम कहाँ हो !

तिष्य—मैं अभी आया सरदार !

(प्रस्थान)

पाँचवाँ दृश्य

स्थान—पाटलीपुत्र के राजमहल का अन्तःपुर।

समय—गोधूली-वेला।

[साम्राज्ञी तिषी बहुत ही उदासीभरा गम्भीर भाव धारण किए बैठी हैं, और अन्त:पुर का प्रधान परिचारक उन के सामने खड़ा है।]

परिचारक—उज्जैनी की यह गायिका बड़े ही करुण गीत गा कर सुनाती है साम्राज्ञी ! उसका कण्ठस्वर भी बड़ा मधुर है। यदि आप आज्ञा दें तो वह आपके सन्मुख अपनी कला का प्रदर्शन कर अपने को कृतकृत्य समझेगी।

साम्राज्ञी—मुझे यह सब कुछ भी पसन्द नहीं। वह युद्धक्षेत्र में खतरे से घिरे हुए हैं और मैं यहाँ बैठ कर संगीत का आनन्द लूँ ?

परि०—वह आपके दर्शनों के लिए बड़ी उत्सुक है साम्राज्ञी !

तिषी—कह दो, मेरा जी अच्छा नहीं है।

परि०—(उदास भाव से) जैसी आपकी आज्ञा !

(जाने लगता है)

तिषी—अच्छा, से यहाँ भेज दो।

परि०—आपका अनुग्रह !

(प्रस्थान)

तिषी—कलिंग का यह महायुद्ध, मालूम होता है, अभी बरसों तक और चलेगा। इतना समय बीत गया, और किसी पक्ष के कमज़ोर पड़ने के लक्षण ही नज़र नहीं आते। परमात्मा उनकी रक्षा करे।

(गायिका का प्रवेश। वह साम्राज्ञी को प्रणाम करती है)

साम्राज्ञी—यहाँ कैसे आना हुआ ?

गायिका—संसार-भर का ऐसा कौन-सा कलाविद् होगा, जिसके जी में यह प्रबल इच्छा उत्पन्न न हुई हो कि वह मरने से पहले एक बार पाटलीपुत्र के दर्शन कर ले। विश्व-भर की विद्याओं और कलाओं का केन्द्र यह नगर सचमुच बड़ा गरिमाशाली है। मुझे प्रतीत होता है, जैसे मैं अपने कल्पनामय स्वप्न-प्रदेश में आ गई हूँ।

साम्राज्ञी—आपके संगीत की बड़ी प्रशंसा सुनी है। आपसे मिल कर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई।

गायिका—कुछ सुनेंगी साम्राज्ञी !

साम्राज्ञी—सुनाइए।

(गायिका गाती है)

गीत

नहीं आज बादल,—गगन श्याम निर्मल
सुधा से नहाती खड़ी मेदिनी है,
उमड़ती नदी;—खेल चञ्चल हैं चिड़ियाँ
छिड़ी विश्व में प्यार की रागिनी है।

खिली फूल कलियाँ, खिले चन्द्र-तारा
हवा मस्त है, चाँदनी खिल रही है
जगत मुग्ध-मन; प्रेम-मदिरा में प्रीतम
तुम्हारा हृदय फिर खिला क्यों नहीं है ??
वही अनमनापन, वही हाय चिन्ता
किधर से उदासी उमड़ कर चली है,
किनारा किए वे गए हैं उधर क्यों ?
हृदय में सदा की वही बेकली है।
अधिक है न तड़पन, न अब और जलना
बिना स्नेह के दीप कब तक जला है !!
न देखी उषा हाय ! जीवन तमोमय
अँधेरा सघन और होता चला है !

साम्राज्ञी—तुम्हारे इस गीत ने मेरे हृदय में तूफ़ान-सा खड़ा कर दिया है गायिका ! तुम सचमुच धन्य हो, तुम्हारी कला धन्य है !

गायिका—मैं कृतार्थ हुई साम्राज्ञी ! यह सब आपकी दया है।

साम्राज्ञी—(परिचारक से) इन्हें विश्राम-गृह में ले जाओ। (गायिका से) कल प्रातःकाल आप प्रार्थना-मन्दिर आने का कष्ट कीजिएगा।

(दोनों का प्रस्थान)

साम्राज्ञी—मेरे जी में कुछ सूनापन-सा था, जिसे इस गायिका के मधुर और करुण संगीत ने छू-सा दिया है।

मेरे गृहस्थ-जीवन के दस वर्ष व्यतीत हो गए, मगर अपने जी में एक विशेष तरह का अभाव, एक विशेष प्रकार का सूनापन मैं अभी तक अनुभव करती हूँ। भाग्य ने मुझे इस महासाम्राज्य की साम्राज्ञी बना दिया है। मगर फिर भी मेरे चित्त में शान्ति नहीं है। इसमें क्या उनका दोष है? नहीं, वह सम्राट् हैं, वह वीर हैं, उन्हें पचासों तरह के काम रहते हैं। मैं ही हूँ, जो बिलकुल व्यर्थ हूँ, अपदार्थ हूँ।... वह युद्धभूमि में हैं! परमात्मा उन की रक्षा करे। उन्होंने हज़ारों दिलों को दुखाया है। ओफ़, उन पर इतने लोगों की बद्दुआएँ होंगी। प्रभो! उनके कर्मों का सम्पूर्ण दण्ड मुझ अकेली को देना! (सहसा नेपथ्य में से बिलकुल नीरस हँसी की आवाज़ सुनाई देती है। साम्राज्ञी चौंक उठती है।) यह तो चित्रा की आवाज़ है, वह क्या इधर ही आ रही है! ओह, अभागिनी राजकुमारी! इस बेचारी का दिल टूट गया है।

(गुनगुनाते हुए विक्षिप्त चित्रा का प्रवेश)

चित्रा—बस, अब थोड़ी-सी कसर बाकी है। अब सब समाप्त हो जायगा।

साम्राज्ञी—मेरा प्रणाम स्वीकार करो बहन!

चित्रा—(विचित्र ढंग से देख कर) तिषी! नहीं, सम्राज्ञी! तुम हो? देखो, अब सब समाप्त हो जायगा!

सम्राज्ञी—क्या समाप्त हो जायगा?

चित्रा—शीघ्र ही एक भयंकर भूकम्प आयगा और उसमें सभी कुछ समाप्त हो जायगा।

साम्राज्ञी—अपने भाई के लिए मंगलकामना करो बहन!

चित्रा—मेरा भाई ? मेरा एक भाई वहाँ है ! (हाथ से ऊपर की ओर इशारा करती है) और दूसरा भाई मालूम नहीं किधर गया ?

साम्राज्ञी—तुम्हारे वह भाई, जो कलिंग-युद्ध में गए हैं।

चित्रा—उसकी प्यास अभी नहीं बुझी। वह अभी और रक्तपान करेगा। याद रखना, मैं कहे देती हूँ। (धीरे से) सँभल कर रहना, मैं अभी से बता देती हूँ; कलिंग के लोगों की हत्या करके जब वह लौटेगा, तब वह यहाँ भी हत्या ही करेगा। (और भी धीरे-धीरे तथा निश्चयपूर्ण स्वर से) मेरी भी ! तुम्हारी भी ! सभी की !

(साम्राज्ञी काँप जाती है।)

साम्राज्ञी—उन्हें क्षमा कर दो बहन ! आखिर वह भी तुम्हारे भाई हैं।

चित्रा—(ज़रा जोश के साथ) क्षमा कर दूँ, उस हत्यारे को ! उस राक्षस को। नहीं हरगिज़ नहीं। मैं उसे बद्दुआ दूँगी। मैं उसे शाप दूँगी। मैं उसे बद्दुआ देती हूँ कि...... (फिर वह इस तरह बोलने लगती है, जैसे वह केवल अपने ही से कह रही हो) मगर नहीं, शीला ने कहा था, उन्हें बद्दुआ मत देना ! नहीं, बद्दुआ नहीं दूँगी !......शीला ! सुमन !!

[इसी समय सम्राट् अशोक का पुत्र कुणाल, जिस की उम्र अभी चार साल की है, माँ ! माँ ! कहता हुआ उसी जगह आ जाता है। चित्रा कुणाल का एक चुम्बन लेकर तेज़ी से भाग जाती है और साम्राज्ञी सिर झुकाए खड़ी रह जाती है। वह कुणाल की ओर भी ध्यान नहीं देती। थोड़ी ही देर बाद नज़दीक के उद्यान के लता-कुंजों में से एक बहुत ही करुण गान की ध्वनि सुनाई देने लगती है। पहले यह ध्वनि अस्पष्ट-सी है, उसके बाद स्पष्ट हो जाती है।]

कुणाल—माँ ! यह क्या है ?

तिषी—बेटा, तेरी बूआ गा रही है।

कुणाल—मेरी बूआ ! (डर जाता है ।)

(नेपथ्य में चित्रा के गीत की आवाज़ अब बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है ।)

गीत

नहीं चाह कुछ न रही तृषा, न हृदय में कोई .गुबार है
सभी मिट गईं मेरी हसरतें, न मुझे घृणा है न प्यार है।
कभी मैं भी मानो तरंग थी, मेरे दिल था—एक उमंग थी
न समझ सकी कि उजड़ गई, क्यों यह ज़िन्दगी की बहार है।
न रुपहला चाँद जहाँ खिला, न सितारा है—न दिया जला
मेरी ज़िन्दगी है कि रात है, जहाँ घोर तम का प्रसार है।
न मैं ले सकी प्रतिशोध ही—न मरी, मैं ज़िन्दा बनी रही
मुझे प्यास .खून की क्यों नहीं ?—मेरी जीत है कि यह हार है।
मेरा दिल किसी ने बदल दिया, कि न जाने क्या मुझे हो गया
मुझे शोक है नहीं कुछ दया, रहा बदले का न विचार है।

तिषी—दुनिया में जो करुण से भी करुण दृश्य हैं, यह उन सबसे बढ़कर करुण है ! ओह, अभागिनी चित्रा ! तुम्हें मैं क्या कह कर आश्वासन दूँ !

(इसी समय कुणाल रो पड़ता है । तिषी पुचकार कर उसे गोद में उठा लेती है ।)

छठा दृश्य

स्थान—तुशाली का राजपथ।

समय—सायंकाल।

[नगर में सब कहीं मातम-सा छाया हुआ है। राजमार्ग पर बहुत कम लोग आते-जाते दिखाई दे रहे हैं। एक लूला भिखारी एक बालक और एक बालिका को साथ लिए राजमार्ग के किनारे भीख माँग रहा है। दोनों बच्चे एक गीत गा रहे हैं।]

गीत

गगन में सजल श्याम बदली झुकी है, दिशाएँ मलिन,—दूर आँधी उठी है,
न आया भिखारी अभी तक नगर से, विकल दीन कन्या अकेली कुटी है।
—बड़ी दूर तक हाय! सुनसान वन है, उमड़ती चली आ रही है—अँधेरी
सभी जा चुके हैं, तुम्हीं घर न आये, वहीं हाय! कब तक लगाओगे फेरी!!
चलो लौट आओ पिता दुःखिनी के, उसे चाह कुछ अन्न-जल की नहीं है,
उसे है नहीं माँ, न है बन्धु-भगिनी, तुम्हीं में धरे प्राण वह जी रही है।
गरजने लगे मेघ बुँदियाँ टपकतीं, हवा थरथराती झपटती चली है,
कभी कौंधती नील नागिन सरीखी, गगन बीच बिजली कड़क ले चली है।
नगर के इधर हों कहीं खण्डहर में, कि नीचे किसी पेड़ के हों भिखारी
कहीं भीजते आ रहे हों न पथ पर, यही सोचती मार्ग देखे बिचारी।
धारा-व्योम पर, इस हृदय बीच, बाहर, चतुर्दिक् सघन तम बिछा जा रहा है
चमकता कभी कौंध में वन्य पथ है,—न उस पर कहीं से कोई आ रहा है।
नहीं आये बिटिया!—पड़ी राह सूनी, किसे ताकती द्वार पर तू खड़ी है,
चली आ, उधर बैठ भीतर सम्हल कर, विकट मेघ गर्जन, भयानक झड़ी है।
नहीं आज दुर्दिन में कोई सहायक, खड़ी बालिका इस विजन में अकेली
हटा अन्धतम, थाम बेटी हृदय को, जला ले तनिक दीप करले उजेली।
कहाँ ध्यान है? गूढ़ चिन्ता है किसकी?—किसे सोचती तू सिसकती खड़ी है?
किसे खोजती इस अँधेरी में दुखिया! मधुर याद किस गोद की इस घड़ी है!!

(इसी बीच में ५—६ पथिक उस भिखारी के निकट खड़े हो जाते हैं।)

भिखारी—भगवान् के नाम पर कुछ दया करो बेटा !

पहला पथिक—इन बच्चों के स्वर में अभी से कितनी कसक और कितनी वेदना भरी है !

दूसरा पथिक—तुशाली के यदि आज सुदिन होते, तो इस भिखारी के सन्मुख सोने का ढेर लग गया होता।

तीसरा पथिक—तुम कौन हो भिखारी ?

भिखारी—मुझ ग़रीब का परिचय जान कर क्या करोगे ?

तीसरा पथिक—यह गीत इन बच्चों को किस ने सिखाया है ?

भिखारी—मैंने।

प० पथिक—(आश्चर्य से) तुमने ! तुमने इसे कहाँ सुना ?

भिखारी—यह मेरा ही बनाया हुआ है।

प० पथिक—भिखारी, तुम सच-सच कहो, तुम कौन हो ?

भिखारी—बेटा, कभी मैं तुशाली की सेना के नायकों में गिना जाता था। अब तो मैं एक भिखारी ही हूँ !

दू० पथिक—ओहो ! प्रतीत होता है, तुम्हारे हाथ इसी युद्ध में जाते रहे हैं।

भिखारी—महाराज पर, देश पर, जन्मभूमि पर, विपद आई हुई है बेटा ! मगर मैं अब लाचार हो गया हूँ, इस तरह भीख माँगने के अतिरिक्त मैं और कर ही क्या सकता हूँ। (आँखों में आँसू भर आते हैं।)

चौथा पथिक—तुम्हें युद्ध में चोट कब लगी थी ?

भिखारी—गत वर्ष।

चौथा पथिक—उसके बाद ?

भिखारी—उसके बाद, चिकित्सालय से विदा होते ही मुझे छुट्टी दे दी गई। मैं और कर भी क्या सकता था बेटा! युद्ध-भूमि से घर चला आया। तीन महीने तक मुझे राज्य की ओर से गुज़ारे लायक धन मिलता रहा। परन्तु उसके बाद वह बन्द हो गया। हमारा देश ख़तरे में है। राज-कोश ख़ाली हो गया है। सारे राज्य में जवान आदमी देखने को भी नहीं मिलते। सब तरफ़ महामारी और अकाल का आधिपत्य है; इस दशा में मैं महाराज को क्यों दोष दूँ बेटा! यह तो मेरा कर्मफल है।

पहला पथिक—इन बच्चों की माँ नहीं है क्या ?

भिखारी—इनकी माँ को मरे आज छः महीने हो गए। वह बेचारी जब तक जीती रही, उसने हमें भीख नहीं माँगने दी। वह बड़े कुलीन घर लड़की थी बेटा! मगर उसके सभी सम्बन्धी इसी युद्ध में काम आ चुके थे। वह जब तक रही, स्वयं भूखी रह कर इन बच्चों का पेट पालती रही। स्वयं सब तकलीफ़ें उठा कर उसने हमें तकलीफ़ों से बचाया। मगर अन्त में वह इतनी कमज़ोर हो गई कि वह बीमार पड़ गई। मैं कुछ भी न कर सका और वह देवी मेरे देखते-देखते मुझे सदा के लिये छोड़ कर चली गई। उसके बाद मैंने लाचार होकर यह पेशा स्वीकार कर लिया।

पहला पथिक—तुम कुछ पा जाते हो बाबा ?

भिखारी—कुछ नहीं मिलता यह तो कैसे कहूँ। तुशाली के नागरिक बड़े दयावान् हैं। वे ग़रीब की, अपाहिज की, अनाथ की पुकार अवश्य सुनते हैं। मगर अब तो यहाँ ज़िन्दा

आदमी ही कितने बचे हैं ? और जो बचे हैं; उनमें से कितने ऐसे हैं, जिनमें एक सिक्का भी देने की सामर्थ्य बाकी हो। अभी मेरा तो काफ़ी अच्छा हाल है। इन बच्चों पर, इनकी आवाज़ पर, लोग तरस खा जाते हैं। परन्तु मुझे ऐसे लोगों का भी पता है, जो कभी तुशाली के सम्पन्न नागरिक हुआ करते थे, आज वे भूख से तड़प-तड़प कर जान दे रहे हैं।

(सभी पथिक उस भिखारी को कुछ-न-कुछ देते हैं।)

भिखारी—भगवान तुम्हारा भला करे बेटा !

(प्रस्थान)

सातवाँ दृश्य

स्थान—कलिंग की युद्धभूमि।

समय—रात का प्रथम प्रहर।

[आकाश में शुक्ला त्रयोदशी का चाँद चमक रहा है। जहाँ तक निगाह जाती है, युद्ध-भूमि में विनाश के चिह्न दिखाई देते हैं। टूटे हुए रथों की भर-मार है। मरे हुए मनुष्यों तथा घोड़ों की लाशें सैकड़ों की संख्या में बिखरी पड़ी हैं। घायलों के चीत्कार से आसमान भर रहा है। सुदूर दक्षिण में अशोक की सेना के शिविर की रोशनी दिखाई दे रही है और सुदूर उत्तर में कलिंग की सेना की। युद्धक्षेत्र में आचार्य उपगुप्त तथा शीला अनेक बौद्ध-भिक्षुओं के साथ घायलों की सेवा का कार्य कर रहे हैं। सभी बौद्ध-भिक्षुओं ने श्वेत वस्त्र धारण किए हुए हैं, और सभी लोग बिलकुल चुप हैं। किसी को पानी पिलाया जा रहा है, किसी की मरहम-पट्टी की जा रही है और किसी को गाड़ी पर लाद कर चिकित्सालय के शिविर की ओर भेजा जा रहा है।]

[सहसा शीला काम करते-करते थक कर रुक जाती है और अना-यास ही उसके मुँह से एक ठण्डी आह निकल पड़ती है।]

आचार्य उपगुप्त—क्या है बेटी !

शीला—यह भयानक जन-संहार कब समाप्त होगा पिताजी ?

उप०—कुछ कहा नहीं जा सकता शीला। मानव हृदय का अहंकार इस युद्ध के मूल में है। व्यक्ति का अहंकार जब फैल कर समाज या जाति का अहंकार बन जाता है, तब उसकी जड़ें पाताल तक चली जाती हैं। दोनों पक्षों में से जब तक एक पक्ष के अहंकार का पूर्ण नाश न हो जायगा, तब तक यह लड़ाई बन्द न होगी।

शीला—ओह, कितना भयंकर दृश्य है! रोज़ दोनों तरफ़ के अच्छे-भले, खाते-पीते, तन्दुरुस्त आदमी इस मैदान में आकर जमा होते हैं और कुछ घण्टों के बाद ही यहाँ सैकड़ों लाशों और हज़ारों घायलों को छोड़ कर और कुछ भी नहीं बचता! दो बरस हो गए, यह युद्ध समाप्त होने में नहीं आया। नौबत यहाँ तक पहुँच गई है कि दिन भर में जितने लोग मरते हैं, उनकी लाशों की भी अब कोई परवाह नहीं करता। आप इस भयंकर युद्ध को बन्द करवाने का प्रयत्न क्यों नहीं करते पिताजी ?

उप०—मैं कर ही क्या सकता हूँ शीला ?

शीला०—आप सम्राट् अशोक को जाकर समझाइए। सम्भव है, वह आपकी बात सुन लें।

उप०—दो वर्षों तक इतने कष्ट झेलते रहने के बाद, और अपने पक्ष के हज़ारों सैनिकों की बलि दे चुकने पर वह कभी मेरे कहने-मात्र से अपना इरादा बदल सकता है बेटी ?

शीला—मेरा ख़याल है आप की बात इस दुनिया में कोई नहीं टाल सकता पिताजी !

उप०—(ज़रा कोमल भाव से) अच्छा बेटी, एक बात पूछूँ तो उस का सही-सही उत्तर दोगी ?

शीला—क्यों नहीं पिता जी।

उप०—अशोक के प्रति तुम्हारे हृदय में क्या अभी तक प्रतिहिंसा के भाव बाकी हैं ?

शीला—(ज़रा लज्जित स्वर में) प्रतिहिंसा तो नहीं, इसे एक तरह से घृणा और भय का-सा भाव कहना चाहिए। मुझे भय प्रतीत होता है कि उन के प्रति मेरे हृदय में कहीं फिर से प्रतिहिंसा की भावना जागृत न हो जाय। इसी भय से मैं कभी उनकी याद ही नहीं करती। मैं सदा प्रयत्न करती हूँ कि उनका नाम भी मेरे कानों में न पड़े। मुझे यह भी याद न रहे कि एक ऐसा व्यक्ति इस दुनिया में मौजूद है, जिसने मुझे पीड़ा पहुँचाई थी। और इस में मुझे सफलता भी मिली है भगवन् !

उप०—तुम मानवी नहीं, देवी हो शीला !

[शीला लज्जित होकर पुनः घायलों की सेवा के कार्य में लग जाती है। सहसा कुछ ही दूर चल कर एक लाश पर उस की दृष्टि पड़ती है। कलिंग के किसी युवक सेनानायक का यह शव है। इस युवक के चेहरे पर शीला को कोई ऐसी असाधारणता प्रतीत होती है कि वह उसे ध्यान से देखने लगती है।]

शीला—(परीक्षा करके) नहीं, कुछ भी आशा नहीं है। यह कभी का समाप्त हो चुका। ओह, कितना स्वस्थ युवक था।

[सहसा उसकी निगाह उस सैनिक के जेब में उभरे हुए एक कागज़ पर पड़ती है। शीला वह कागज़ खींच लेती है।]

शीला—नायक !

एक भिक्षु—(समीप आकर) आज्ञा कीजिए माता !

शीला—इस पत्र को ज़रा पढ़ो तो !

भिक्षु—(पढ़ता है) "प्राणनाथ ! सन्देश-वाहक के हाथ यह पत्र तुम्हारी सेवा में भेज रही हूँ। देखो नाथ, तुम कितने निठुर हो, तुमने प्रतिज्ञा की थी कि मंगलवार तक तुम यहाँ पहुँच जाओगे और आज शनिवार हो जाने पर भी तुम नहीं आए। परमात्मा करे, तुम पर कष्ट की हल्की-सी छाया भी न पड़े। मेरे देवता, हमारे विवाह को अभी एक महीना भी नहीं हुआ। अभी से तुम इतने निठुर हो गए ! लिखो, कब आओगे ? मैं दिन-रात द्वार पर बैठ कर तुम्हारी प्रतीक्षा किया करती हूँ। तुम कुछ बाकायदा सैनिक तो हो नहीं कि इच्छा रहने पर भी घर न आ सको। मेरी शपथ, एक बार अपनी सूरत मुझे दिखा जाओ। मेरा जी बहुत उद्विग्न हो रहा है।—विजया।"

शीला—ओह अभागिनी नारी ! इस पत्र पर तारीख़ कौन-सी है ?

भिक्षु—यह पत्र कल ही वुशाली से लिखा गया गया है।

शीला—यह इसके दूसरी ओर क्या लिखा है ?

भिक्षु—(देख कर पढ़ता है) "प्यारी, युद्ध-भूमि में काग़ज़ नहीं मिलते, इससे तुम्हारे पत्र की पीठ पर ही जवाब लिख रहा हूँ। मैं अब तक क्यों नहीं आया, यह मिलने पर ही बताऊँगा, यहाँ इतना संकेत ही पर्याप्त है कि हमारी मातृ-भूमि पर बहुत शीघ्र महासंकट आने की पूरी सम्भावना है। बोलो, क्या मुझे अनुमति न दोगी कि मैं मातृभूमि की,

माता की, देश की पुकार पर ध्यान दूँ। इस मंगलवार को, यानी परसों, अवश्य तुम्हारी सेवा में पहुँच जाऊँगा।"

शीला—इस वीर की लाश रथ पर रक्खो, मैं स्वयं इसे इसके घर तक पहुँचा आऊँगी।

भिक्षु—जो आज्ञा।

[रथ आता है और एक भिक्षु को साथ लेकर लाश सहित शीला उसमें सवार हो जाती है।]

(दृश्य बदलता है)

स्थान—तुशाली की एक अट्टालिका का आँगन।

समय—आधी रात।

[उस युवक सैनिक की लाश आँगन में पड़ी है, उसके पास ही सैनिक की पत्नी युवती विजया अस्तव्यस्त वेश में आँगन में खड़ी शीला से बातें कर रही है।]

विजया—यह तुम्हें कहाँ मिले माँ ?

शीला—कलिंग के युद्धक्षेत्र में।

विजया—इनमें सचमुच जीवन बाकी नहीं है क्या ?

शीला—सब समाप्त हो गया बहन !

विजया—नहीं, नहीं। वह देखो, किस तरह मेरी ओर देख रहे हैं !

शीला—धैर्य धारण करो अभागिनी नारी !

विजया—नहीं, वह मुझे छोड़ कर कभी नहीं जा सकते। उन्होंने मुझ से वायदा किया था कि वह शीघ्र ही यहाँ आएँगे।

शीला—विजया, वह ऐसी जगह चले गए हैं, जहाँ से लौट कर कोई नहीं आता।

विजया – मेरे हाथों को देखती हो ! अभी विवाह की मेंहदी भी नहीं उतरी। नहीं, नहीं, वे जीवित हैं, वह मुझे छोड़ कर कहीं नहीं जा सकते। कभी नहीं जा सकते।

शीला—व्यर्थ का मोह मत करो बहन ! मुझे मालूम है, भाग्य ने तुम्हें कितनी गहरी चोट पहुँचाई है। मगर धैर्य रक्खो, सहन करो। और किया भी क्या जा सकता है।

विजया—हे प्रभो !...जो कुछ मैं देख रही हूँ, वह आधी रात का झूठा सपना नहीं है क्या ?

शीला—बहन, आज सम्पूर्ण मगध-साम्राज्य और सम्पूर्ण कलिंग इसी दुख से दुखी है। घर-घर में मातम छाया हुआ है। तुम धैर्य धारण करो। तुम्हारे स्वामी वीर पुरुष थे। उन्होंने अपने कर्तव्य के सम्मुख जीवन की परवाह नहीं की !

विजया—उफ़ !...परमात्मा, मेरी आँखों के सन्मुख अँधेरा छाया चला जा रहा है। यह कैसी तीव्र व्यथा है। आर्य ! प्राणनाथ ! तुम कहाँ हो ?

शीला—(युवती के कन्धे पर हाथ रखकर) धीरज धरो बहन !

विजया—(पागलों के-से भाव से) हाँ, मैं समझी। इन्हें वह राक्षस अशोक खा गया है। खूनी ! हत्यारा ! दैत्य ! वह सारी तुशाली को खा जायगा। वह इस सम्पूर्ण विश्व को खा जायगा। राक्षस ! पिशाच !!

[शीला सहसा अनुभव करती है कि उसके हृदय का पुराना शोक उमड़ पड़ना चाहता है। वह विजया को उसके सम्बन्धियों की देख-रेख में छोड़ कर स्वयं वहाँ से चली जाती है।]

पटाक्षेप

पाँचवाँ अंक

पहला दृश्य

स्थान—युद्धभूमि में अशोक का खेमा।

समय—प्रभात।

[सम्राट् अशोक अपने खेमे के बाहर धीरे-धीरे टहल रहे हैं। दूर पर सैनिक बाजा बज रहा है।]

अशोक—आखिर चण्डगिरी भी मारा गया। पिछले बरसों में वह मेरा दाहिना हाथ बन कर रहा है। मगर उसके मर जाने पर भी मुझे रंज क्यों नहीं हो रहा ? ऐसा अनुभव होता है, जैसे किसी दानव के पंजों से मुझे छुटकारा मिल गया हो। कितना प्रचण्ड शक्तिशाली था वह ! उसने मेरी स्पष्ट आज्ञा के प्रतिकूल मेरे भाई की हत्या कर दी, फिर भी मैं उससे कुछ भी कह सुन न सका। दम्भ, छल, हत्या—ये सब चीज़ें उसके लिए नितान्त साधारण बातें थीं। मगर मेरे प्रति वह सदा सच्चा रहा। उसने जो कुछ किया, सदा मेरे लिए ही किया और बिलकुल निष्काम भाव से किया। तक्षशिला नगर की प्रजा के क्रोध से मैंने उसकी रक्षा की थी, उसका बदला उसने अपने प्राणों को होम कर चुका दिया।...मगर वह मेरे भाई का हत्यारा था !...जाने दो, जो चला गया, उसकी याद करने का स्थान कम-से-कम संग्रामभूमि हरगिज़ नहीं है।

(नए सेनापति मौखरी का प्रवेश।)

मौखरी—(सैनिक ढंग से नमस्कार करके) सम्राट् की जय हो !

अशोक—क्या समाचार है सेनापति ?

मौखरी—दक्षिण की ओर से कलिंगराज ने अपनी सेना वापस बुला ली है। आज उस ओर युद्ध नहीं होगा।

अशोक—यह शुभ समाचार है सेनापति। इसका कारण तुमने सोचा ?

मौखरी—जी हाँ! मेरा विचार है कि कलिंगराज आज अपनी सम्पूर्ण सम्मिलित शक्ति से उत्तर की ओर से आक्रमण करेंगे।

अशोक—मेरा यह ख़याल नहीं। मुझे विश्वास है कि इस में कलिंगराज की कोई गहरी चाल है। ख़ैर, देखा जायगा। कोई और बात ?

मौखरी—सम्राट्, कलिंग की सेना का बहुत बुरा हाल है; परन्तु हमारी सेना भी आजकल कम कष्ट में नहीं।

अशोक—क्यों, हमारी सेना को क्या कष्ट है ?

मौखरी—भोजन और वस्त्र दोनों की कमी हो गई है।

अशोक—चण्डगिरी इस कमी का क्या इलाज किया करता था ?

मौखरी—वह तुशाली के आस-पास के गाँवों को ज़बरदस्ती लूट कर अपना काम चलाते थे।

अशोक—तुम भी वही करो।

मौखरी—मगर इस समय इस युद्धभूमि के चारों ओर के ३० मीलों में, केवल तुशाली को छोड़कर, एक भी नगर या गाँव बाक़ी नहीं बचा। सब उजड़ गए हैं सम्राट्!

अशोक—अपने सैनिकों को ३० मील से और आगे बढ़ जाने का आदेश दो।

मौखरी—उन गाँवों में भी स्त्रियों, बच्चों और बूढ़ों को छोड़ कर और कोई नहीं बचा महाराज।

अशोक—हम यह सब कुछ नहीं जानते। कहीं से प्रबन्ध करो। यह प्रबन्ध तो करना ही होगा। इस मामूली-सी दया-माया के पीछे मैं इतने दिनों की मेहनत बरबाद नहीं कर सकता। देखो, तुम्हें मालूम है न, कि पूरे दो वर्षों तक चण्ड-गिरी ने इस युद्ध का सेनापतित्व निबाहा, परन्तु उसने एक बार भी इस तरह की कोई शिकायत मुझ से कभी नहीं की।

मौखरी—परिस्थितियाँ क्रमशः अधिक-अधिक विकट होती जा रही हैं महाराज!

अशोक—हम यह सब कुछ नहीं सुनेंगे। परिस्थितियाँ विकट हो रही हैं, तो कलिंगराज की शक्ति भी अब तक बहुत क्षीण हो चकी है। जाओ, चाहे जहाँ से और जैसे हो सके, इस का इन्तज़ाम करो। यह तो करना ही होगा।

मौखरी—जो आज्ञा सम्राट्!

(प्रणाम करके प्रस्थान)

अशोक—मैं संसार-भर में 'अत्याचारी अशोक' के नाम से प्रसिद्ध हूँ। माताएँ अपने बच्चों को मेरा नाम लेकर डराती हैं। मेरी गणना अकाल, महामारी और मौत के साथ की जाती है। सुबह उठ कर कोई मेरा नाम लेना भी पसन्द नहीं करता। फिर क्यों न मैं भी अत्याचार की पराकाष्ठा कर के ही दिखा दूँ। मेरे उद्धार की एक ही आशा थी, एक ही किरण थी। वह मेरी भाभी शीला!...मगर वह भी तो अपने हृदय में मेरे प्रति अनन्त रोश का भाव लेकर कहीं चली गई! नहीं, मैं अपने हृदय पर नियन्त्रण रक्खूँगा;

मैं उसकी पुण्यस्मृति को भी भुला दूँगा। उसकी निगाह में भी तो मैं एक महाभयंकर पिशाच हूँ।.....मानव-जाति! सन्नाटा थाम कर देख! अशोक आज मगध-साम्राज्य का स्वच्छन्द अधीश्वर है! वह ऐसे-ऐसे काम कर के दिखाएगा कि आने वाली पीढ़ियाँ भी उसके नाम से थर्राया करेंगी।

(प्रस्थान)

दूसरा दृश्य

स्थान—कलिंग-राज्य के एक गाँव के निकट के खेत।

समय—दोपहर।

[अशोक के सैनिक निकट के गाँव को लूट रहे हैं। सब ओर हा-हाकार मचा हुआ है। एक मुहल्ले में सैनिकों ने आग लगा दी है, उस की लपटें और गहरा धूँआ दूर तक दिखलाई पड़ रहा है। स्त्रियाँ, बच्चे और बूढ़े गाँव छोड़-छोड़ कर भागे जा रहे हैं। इन भाग रहे व्यक्तियों में नवयुवक कहीं कोई दिखाई नहीं देता।]

एक बालक—(अपनी माँ से) मैं बिलकुल थक गया हूँ माँ! अब और नहीं दौड़ा जाता।

स्त्री—इस गाँव को अशोक लग गया है बेटा! दौड़ो, जान की बाज़ी लगा कर दौड़ो! वह देखो, अशोक गाँव को आग लगा रहा है! तुम तो बड़े बहादुर हो मेरे राजा बेटा! शाबास, दौड़े चलो।

बालक—ओह, कितनी गरमी है! पानी! पानी!!

स्त्री—बेटा, थोड़ी-सी हिम्मत और करो। नदी तक पहुँच

जायँगे, तो वहाँ भर-पेट पानी मिल जायगा। (बालक रोते हुए फिर से दौड़ने लगता है)

[दक्षिण की ओर से ५-६ स्त्रियाँ और १०-११ बच्चे
भाग कर उसी जगह आ जाते हैं।]

एक युवती—(एक वृद्धा से) अब मैं और नहीं दौड़ सकती माँ! मेरा जी डूब-सा रहा है। (बैठ जाती है)

वृद्धा—प्रभो, तुम कहाँ हो! मेरा जवान बेटा युद्ध में मारा गया। उसकी पत्नी गर्भवती है और आज दोपहर की इस तेज़ गरमी में उसे घर-बार छोड़कर इस तरह भागना पड़ रहा है। प्रभो, तुम्हारा वह चक्र आज कहाँ सो रहा है, जिससे तुम दुष्टों का, अत्याचारियों का नाश किया करते थे! (युवती से) बेटी, हिम्मत न हारो। थोड़ी देर आराम कर लो।

युवती—(आँखों में आँसू भर कर ऊपर की ओर ताकते हुए) माँ! तू मुझे अपनी गोद में क्यों नहीं बुला लेती। ओह, यह कितनी असीम यातना है!

वृद्धा—धैर्य धारण करो बेटी! (अपनी पुत्री से) तुम अपनी भाभी को सहारा देकर चलाओ!

कन्या—बहुत अच्छा माताजी!

[वह युवती उठ खड़ी होती है और अपनी ननद के सहारे लड़खड़ाती
हुई चलने लगती है। सब लोग धीरे-धीरे आगे बढ़ते ही हैं कि
उसी समय दूसरी ओर से तीन-चार सिपाहियों की एक
टोली आकर उनका मार्ग रोक लेती है।]

एक सैनिक—ठहरो!

[सब स्त्रियाँ भयभीत होकर रुक जाती हैं। किसी-किसी की
भय के कारण चीख़ निकल जाती है।]

दूसरा सैनिक—तुम्हारे पास जो कुछ है; वह हमें दे दो !

एक स्त्री—हमारे पास कुछ भी नहीं है।

वृद्धा—(क्रोध से) तुम लोग सैनिक हो या लुटेरे !

एक सैनिक—चुपचाप खड़े रहो। बकवास करोगे तो तुम्हारी खबर ली जायगी !

दूसरा सैनिक—(युवती के आभूषणों की ओर देख कर) तुमने ये आभूषण कैसे पहन रक्खे हैं। इन्हें उतार कर हमें दे दो।

वृद्ध—(हाथ जोड़ कर) यह मेरी पुत्रवधू है महाराज ! यह गर्भवती है; इसे तंग न कीजिए। इसके बदले चाहे मुझे जान से ही मार डालिए।

एक सैनिक—अब गिड़गिड़ाने लगी न। पहले किस तरह शेरनी बनी जा रही थी। (युवती से) उतारो अपने सब आभूषण !

[युवती भय से काँपने लगती है। उससे खड़ा नहीं रहा जाता। लाचार हो कर वह उस तपी हुई बालू पर ही बैठ जाती है। इसी समय एक वृद्ध का प्रवेश।]

वृद्ध—यह क्या हो रहा है ? (परिस्थिति समझ कर, सैनिकों से) तुम लोग मनुष्य हो या पिशाच !

पहला सैनिक—बकोगे तो यह डण्डा तुम्हारी भी खबर लेगा।

वृद्ध—डराता किसे है नालायक। स्त्रियों और बूढ़ों पर अपना रोब जमाने आया है। ख़बरदार ! जो तुमने किसी स्त्री पर हाथ उठाया। कहे देता हूँ, मैं मरूँगा भी, तो तुममें से एक-न-एक को जरूर साथ लेकर मरूँगा।

तीसरा सैनिक—(अपने साथियों से) सेनापति मौखारी की आज्ञा है कि जहाँ तक हो सके बच्चों, स्त्रियों और बूढ़ों पर अत्याचार मत करो।

पहला सैनिक—अब तुम भी धरम बघारने लगे।

वृद्ध—शाबाश सैनिक, देखता हूँ तुम्हारे भी हृदय है।

[इसी समय दोनों सैनिक उस बूढ़े पर आक्रमण कर देते हैं। वह पैंतरे बदल-बदल कर अपना बचाव करने लगता है। सहसा विजया का प्रवेश। उनके हाथों में एक तेज छुरा है।]

विजया—(निकट आकर) यह क्या हो रहा है ?

वृद्धा—(रोते हुए) इस बूढ़े की सहायता करो बेटी! ये दोनों पिशाच हम स्त्रियों पर अत्याचार कर रहे थे, इन्होंने रोका तो इन्हीं पर पिल पड़े।

विजया—(रोष के साथ) ठहरो !

[दूसरा सिपाही आश्चर्य से विजया की ओर देखने लगता है। इसी समय वृद्ध महाशय एक लाठी कस कर पहले सैनिक के सिर पर जमाते है। उसे काफ़ी चोट पहुँचती है। वह गिर पड़ता है। दूसरा सैनिक तत्काल वृद्ध पर आक्रमण कर देता है। तब विजया दूसरे सैनिक की पीठ में छुरा घोंप देती है।]

दूसरा सैनिक—हाय ! (गिर कर मर जाता है।)

[सब स्त्रियाँ भाग जाती हैं। तीसरा सिपाही अब भी उसी तरह चुपचाप खड़ा रहता है।]

तीसरा सैनिक—(विजया से) अभी थोड़ी देर में यहाँ और सैनिक आ जाएँगे। तुम यह छुरा यहीं छोड़ कर कहीं भाग जाओ।

विजया—नहीं, मैं अपने प्राण बचाने नहीं आई। अपने प्राण देने आई हूँ। देखती हूँ, तुम में हृदय है। तुम अपने सेनापति को ऐसे अत्याचार करने से रोकते क्यों नहीं?

तीसरा सैनिक—सेनापति इस तरह के अत्याचार पसन्द नहीं करते। यह इनकी अपनी शैतानियत है। सीमाप्रान्त के ये सैनिक बड़े निर्दय हैं।

(इसी समय दूर पर कुछ और सैनिक दिखाई देते हैं।)

सैनिक—अब भी मौका है। तुम यह छुरा फेंककर भाग जाओ बहन!

विजया—नहीं सैनिक, मैं आज यहाँ दीन-दुखियों की सेवा में अपने प्राण देने आई हूँ; मुझे जीने की इच्छा बिलकुल नहीं है।

[तीन सैनिक वहाँ और आ पहुँचते हैं। विजया उन पर आक्रमण कर देती है। वे चकित रह जाते हैं। उनमें से किसी के हाथ में छुरा या तलवार नहीं, सभी के हाथों में डंडे ही है। इस लिए वे सब अपना बचाव करते हुए एक ओर को हटने लगते हैं और क्रमशः सभी लोग आँखों से ओझल होजाते हैं।]

तीसरा दृश्य

स्थान—आचार्य उपगुप्त के सेवा-दल का खेमा।

समय—सूर्यास्त।

(कुमारी शीला एक चर से बातें कर रही है।)

शीला—यह पक्की खबर है न?

चर—जी हाँ। पक्की खबर है।

शीला—अशोक के शिविर पर षड्यन्त्रकारी किस समय धावा करेंगे?

चर—धावा नहीं होगा। ठीक १२ बजे सम्राट् के शरीर-रक्षकों का पहरा बदलता है। उस समय जो नए शरीर-रक्षक वहाँ पहुँचते हैं, वे सब इस षड्यन्त्र में सम्मिलित हैं। इस षड्यन्त्र की जड़ें दूर-दूर तक फैली हुई हैं राज-कुमारी ! बीसियों व्यक्ति इसमें सम्मिलित हैं।

शीला—उन लोगों का इरादा क्या है ?

चर—उसके बाद तो उनके लिए बड़ी आसान राह निकल आएगी। उन्हें ज्ञात है कि सम्राट् कभी अपने तम्बू में प्रकाश करके नहीं सोते। उजेले में उन्हें नींद ही नहीं आती। बस, १२ बजे के बाद एक शरीर-रक्षक अन्दर जायगा और एक ही वार से सम्राट् के शरीर के दो टुकड़े कर देगा।

शीला—ओहो ! तब ?

चर—तब कलिंगराज कल प्रातःकाल सूर्योदय से पूर्व ही अपनी बची-खुची सेना का संग्रह करके सम्राट् के शिविर पर भयंकर आक्रमण कर देंगे।

शील—और यदि यह षड्यन्त्र असफल हो जाय तो ?

चर—कलिंगराज को अपने इस षड्यन्त्र की सफलता का पूरा भरोसा है। फिर भी उन्होंने निश्चय कर लिया है कि यदि इस चाल में उन्हें सफलता न हुई तो वह कल ही अशोक की अधीनता स्वीकार कर लेंगे।

शीला—इस समय कितने बजे होंगे ?

चर—सात बजने वाले हैं राजकुमारी।

शीला—अच्छा, जाओ।

(चर का प्रस्थान)

शीला—(उद्विग्न भाव से धीरे-धीरे टहलना शुरू कर देती है) यह कैसी अनुभूति है ! अब से दो ही प्रहर के अन्दर अशोक का वध कर दिया जायगा। यह शुभ समाचार है या अशुभ ? मेरा हृदय सहसा इतना उद्विग्न क्यों हो उठा है ! परन्तु मुझे क्या ! कलिंगराज के इस षड्यन्त्र में बाधा उपस्थित करना मेरा कार्य नहीं है।..........क्या सचमुच अशोक का वध हो जाने दूँ ?...नहीं, कुछ समझ नहीं आता। मैं चाहूँ तो उसका जीवन बचा सकती हूँ।...मगर वह युवराज का हत्यारा है ! उसने मेरा सर्वस्वनाश कर दिया ! उसने इस हरे-भरे कलिंग को एक विशाल श्मशान के रूप में परिणत कर दिया है ! उसकी जैसी किस्मत हो, भुगते। मैंने जब उसके अत्याचारों के मार्ग में बाधा नहीं पहुँचाई, तब उसके विरोधियों के मार्ग में कैसे बाधा पहुँचाऊँ ?...तो क्या सचमुच अशोक को मर जाने दूँ ?...कुछ ही घण्टों के बाद अशोक संसार में नहीं रहेगा। यह कैसी अनुभूति है ! मुझे खुशी हो रही है, रंज हो रहा है या चिन्ता हो रही है ?—कुछ भी समझ नहीं आता। नहीं, मैं यह सब भुला दूँगी। मुझे इस युद्ध की घटनाओं से कोई वास्ता नहीं। और मैं कर भी क्या सकती हूँ। अशोक को सूचना दे दूँ तो वह क्रोध में आकर कत्लेआम करवा देगा। इतनी भीषण नरहत्या का उत्तरदायित्व मैं अपने पर कैसे ले सकती हूँ !......मगर क्या सचमुच मैं कुछ नहीं कर सकती ? (वह सोचने लगती है; इसके बाद सहसा उसके चेहरे पर एक विशेष प्रकार का दैवीय उल्लास-सा दिखाई देने लगता है और वह खुशी से नाच उठती है) आ हा, मुझे अपना कर्तव्य सूझ गया।

ठीक है, ठीक है। मुझे अपनी राह दिखाई दे गई ! मेरी साधना आज समाप्त हो जायगी। अशोक, मेरे देवर, मैंने तुम्हें क्षमा कर दिया ! मैंने तुम्हें हृदय से क्षमा कर दिया ! मैं आज अपनी परीक्षा में उत्तीर्ण होऊँगी और तुम्हें मृत्यु के मुँह से बचा लूँगी। मैंने पिछला सभी कुछ भुला दिया। आहा, यह कितना स्वर्गीय उल्लास है !

(उपगुप्त का प्रवेश)

शीला—(प्रसन्नता से लगभग उन्मत्त-सी दशा में) आहा, पिता जी, आप आगए। मैं स्वयं आपके पास आने ही वाली थी।

उप०—तुम आज इतनी खुश क्यों दिखाई दे रही हो शीला !

शीला—पिताजी, मेरा हृदय आज इतना प्रसन्न है, जितना वह बरसों से नहीं हुआ था।

उप०—वह तो देख ही रहा हूँ बेटी ! तुम्हारे चेहरे पर आज स्वर्गीय आभा दिखाई दे रही है। तुम इतनी प्रसन्न क्यों हो शीला ?

शीला—आपने कलिंगराज के षड्यन्त्र का समाचार तो सुन लिया है न पिताजी !

उप०—(जरा संकोच के साथ) ओहो, तो क्या वही समाचार सुन कर तुम इतनी प्रसन्न हो रही हो ?

शीला—जी हाँ, आज मेरी सम्पूर्ण साधना पूरी हो जायगी ! आहा, यह कितनी प्रसन्नता है !

उप०—मैं तुम्हारी बात नहीं समझा बेटी।

शीला—मैंने निश्चय कर लिया है कि मैं आज अशोक की जगह अपने प्राण देने जाऊँगी आचार्य !

उप०—(काँप कर) यह क्यों बेटी, अशोक का जीवन बचाने का क्या और कोई उपाय नहीं है ?

शीला—मुझे तो और कोई उपाय नहीं सूझा। और फिर मैं अपने जीवन से इतना मोह किस लिए करूँ ?

उप०—तुम जो कुछ करना चाहोगी, मैं उस से तुम्हें रोकूँगा नहीं बेटी ! प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन का मार्ग स्वयं बनाता है। परन्तु मैं इतना अवश्य कहूँगा कि संसार को अभी तुम्हारी आवश्यकता बहुत अधिक है। तुम्हारे बिना यह संसार और भी अधिक अभागा, और भी अधिक दुखी बन जायगा बेटी ! (स्वर काँपने लगता है !)

शीला—यह क्या; आप भी इतना उद्विग्न हो उठे पिताजी !

उप०—नहीं बेटी, मैं सब कुछ सहन कर लूँगा। ओह, मेरा मस्तक आज गर्व से ऊँचा हुआ जा रहा है। तुम कितनी महान हो शीला ! और मैं तुम्हारी तुलना में कितना तुच्छ हूँ।

शीला—आप मुझे लज्जित करते हैं आचार्य !

उप०—मेरे जी में सैकड़ों बार यह बात आई है बेटी। फिर भी मैंने सदा प्रयत्न किया है कि तुम्हारे सन्मुख तुम्हारी प्रशंसा न करूँ। मगर आज नहीं रहा जाता बेटी। ओह, शीला ! तुम कितनी महान हो। जो देश तुम्हारे जैसी देवी को जन्म दे सकता है, वह धन्य है। मैं कितना सौभाग्यशाली हूँ कि तुम मेरे संसर्ग में आई।

शीला—बहुत थोड़ा समय बाकी है पिताजी। आपसे मैं केवल एक बात में सहायता चाहती हूँ।

उप०—कहो।

शीला—किसी तरह आप इस बात का प्रबन्ध कर दीजिए कि सम्राट् अशोक आज आधी रात तक अपने ख़ेमे से बाहर रहें और यह बात किसी को मालूम न होने पाए।

उप०—(कुछ देर तक सोच कर) अच्छा, मैं इस बात का प्रबन्ध कर लूँगा। परन्तु मुझे एक बात और भी सूझी है; क्यों न सम्राट् को हम लोग आधी रात तक वहाँ से दूर रक्खें और तुम भी वहाँ मत जाओ। षड्यन्त्रकारी अंधकार में ही उनके पलंग पर वार करेंगे; उन्हें कहाँ मालूम पड़ेगा कि उनके वार का परिणाम क्या हुआ है ?

शीला—नहीं पिताजी, वे इतने मूर्ख न होंगे कि यह समझ न जायँ कि उनका वार ख़ाली बिस्तरे पर पड़ा है या किसी व्यक्ति की देह पर। फिर, उसका परिणाम भी कितना भयंकर होगा। अशोक को इस षड्यन्त्र का ज़रा भी सन्देह हो गया, तो वह सम्पूर्ण कलिंग में एक भी व्यक्ति को जीता नहीं छोड़ेगा। पिताजी, मैं आपसे अनुरोध करती हूँ कि आप मुझे अपने निश्चय से विचलित न कीजिए।

उप०—जी नहीं मानता बेटी ! मगर नहीं, मैं सब सहन करूँगा। ओह, यह कैसी अनुभूति है !

शीला—आप क्या प्रबन्ध करेंगे ?

उप०—अपने विश्वस्त चर के हाथ अभी मैं अशोक के नाम इस आशय की एक चिट्ठी भेजता हूँ कि यदि वह कल ही कलिंग-युद्ध को समाप्त हो गया देखना चाहता है, तो गुप्त रूप से चर के साथ इसी समय मेरे पास आ जाय। सम्राट् के यहाँ आने के समाचार को पूरी तरह गुप्त रखने

के लिए मैं उन्हें कहला दूँगा कि चर के साथ एक व्यक्ति मैं और भेज रहा हूँ। उस व्यक्ति से कपड़े बदल कर वह छद्म-वेश में यहाँ आ जाएँ। उनके शरीर-रक्षकों को भी यह ज्ञात न होने पाए कि सम्राट् कहीं बाहर गए हैं। तुम पुरुष-वेश में चर के साथ चली जाओ और वहाँ ऐसा प्रबन्ध कर लेना कि सम्राट् के दिल में किसी तरह का सन्देह पैदा किए बिना तुम उनसे अपने पुरुषोचित वस्त्र बदल सको। मुझे मालूम है कि मेरे बौद्ध होने पर भी सम्राट् का मुझ पर विश्वास है। वह अवश्य मेरी बात मान लेंगे।

शीला—बहुत ठीक। मुझे अब आशीर्वाद दीजिए पिताजी! (उपगुप्त के सामने घुटने टेक कर बैठ जाती है।)

उप०—(आँखों में आँसू भर कर) बेटी मैं तुम्हें क्या आशीर्वाद दूँगा! तुम्हीं इस संसार को, इस अभागी मनुष्य-जाति को यह आशीर्वाद दो कि वह इन व्यर्थ के लड़ाई-झगड़ों से अपने को और भी दुखी न बनाए।

[उपगुप्त एक हाथ से अपने आँसू पोंछते हैं, और दूसरा हाथ वह शीला के झुके हुए मस्तक पर रख देते हैं।]

चौथा दृश्य

स्थान—आचार्य उपगुप्त के तम्बू के भीतर।

समय—रात के १२ बजे।

अशोक—अब तो १२ भी बज चुके आचार्य! आप अभी तक बताते क्यों नहीं?

उप०—थोड़ी देर और धैर्य रक्खो अशोक। मैं तुम्हारे

कल्याण के लिए ही इतना विलम्ब कर रहा हूँ। ज़रा और ठहरो।

अशोक—कुछ समझ नहीं आता। आपके पास ऐसी भी क्या बात हो सकती है, जिसके लिए किसी विशेष शुभ या अशुभ मुहूर्त की आवश्यकता हो। फिर आप तो मुहूर्तों का यह पचड़ा मानते भी नहीं हैं।

उप०—आज आधी रात तक तुम मेरे अतिथि हो अशोक! इतना समय तुम चुपचाप यहाँ काट सको तो इसमें बुराई ही क्या है। ख़ास तौर से जब इसी अतिथ्य के बदले कल प्रातःकाल तुम्हारी दो बरसों की मेहनत सफल हो जायगी। तुम्हें नहीं मालूम कि इस एक-एक क्षण में हम लोग तुम्हारे लिए कितना बड़ा त्याग कर रहे हैं।

अशोक—कुछ समझ नहीं आता!

(कुछ क्षणों तक दोनों चुप बैठे रहते हैं। उसके बाद)

अशोक—मेरी एक बात का जवाब देंगे भगवन्!

उप०—पूछो।

अशोक—पाटलीपुत्र को छोड़ कर महाराज कुमारी शीला ने आप ही के यहाँ तो आश्रय लिया था?

उप०—ठीक है।

अशोक—वह आजकल कहाँ हैं?

उप०—उनसे मिलना चाहते हो?

अशोक—क्या यह भी सम्भव है? सच तो यह है कि उन्हें देखने की उत्सुकता, उनसे क्षमायाचना करने की इच्छा मेरे उद्विग्न हृदय की सबसे बड़ी लालसा है। अशोक इस दुनिया में यदि किसी व्यक्ति से आँखें मिलाने से घबराता है, तो अपनी

इसी भाभी से। संसार-भर में अशोक यदि किसी व्यक्ति की इज्ज़त करता है तो अपनी इसी भाभी की।

उप०—इसी समय अपनी भाभी से मिलना चाहते हो ?

अशोक—(ज़रा घबराए हुए-से स्वर में) यह भी कभी सम्भव है आचार्य !

उप०—वह इस समय तुम्हारे निजू तम्बू में है।

अशोक—आप तो दिल्लगी करते हैं, आचार्य !

उप०—मैं दिल्लगी नहीं करता अशोक ! अपने सम्पूर्ण जीवन में आजकी इस भयानक रात से बढ़ कर अधीर और गम्भीर मैं और कभी नहीं हुआ।

अशोक—आपकी कोई बात समझ नहीं आती भगवन् ! कृपा करके मुझसे पहेलियाँ न बुझवाइए।

उप०—सुनो, अब तुमसे कहने का समय आ गया है। सुनो अशोक, आज कुछ लोगों ने तुम्हारी हत्या का भयंकर षड्यन्त्र रचा था। षड्यन्त्रकारियों के सम्बन्ध में मैं तुम्हें कुछ भी न बताऊँगा। बस इतना ही समझ लो कि उस षड्यन्त्र की सफलता में कोई सन्देह नहीं था। हाँ, तुम्हें यह तो ज्ञात है न, कि शीला यहाँ ही थी और वह हमारे सम्पूर्ण स्वयंसेवकों की संचालिका थी।

अशोक—(चकित होकर) वह आपके साथ युद्धभूमि में थीं ? जिस माता की चरचा हमारे सम्पूर्ण सैनिक बड़ी श्रद्धा के साथ किया करते हैं, वह क्या शीला ही थीं।

उप०—हाँ अशोक, वह शीला ही थी। आज सूर्यास्त के समय शीला को इस षड्यन्त्र की पूरी सूचना प्राप्त हो गई थी। तब उसके सामने तीन मार्ग खुले थे। या तो वह

तुम्हारा वध हो जाने देती। यह तो तुम जानते ही हो कि हम लोग दोनों पक्षों को इस बात का वचन दे चुके हैं कि हम युद्ध की किसी बात में कोई दख़ल नहीं देंगे। इसलिए यदि शीला भी यही करती तो उसे कोई दोष न दे सकता। दूसरा यह कि शीला तुम्हें उस षड्यन्त्र की सूचना दे देती। उस दशा में तुम स्वभावतः सतर्क रहते और उन सबका वध करवा डालते। और तीसरा यह कि शीला तुम्हारी जगह अपनी बलि देकर तुम्हें और षड्यन्त्रकारियों—दोनों को बचा लेती। अशोक, शीला ने इसी तीसरे मार्ग का अव-लम्बन किया है।

अशोक—यह किस तरह आचार्य ? शीला कहाँ है ? जल्दी बताइए, वह कहाँ है ?

उप०—उद्विग्न मत होओ अशोक ! सुनो, (भरे हुए स्वर में) रात का दूसरा प्रहर अब समाप्त हो गया ! शीला सम्भवतः अब तक तुम्हारी जगह अपने प्राण दे चुकी होगी !

अशोक—(उछलकर खड़ा हो जाने के साथ) किस जगह ? जल्दी बताइए, मैं उसे किस जगह खोजूँ आचार्य ?

उप०—(बड़ी धीमी आवाज में) जिस व्यक्ति से तुमने अपनी पोशाक बदली थी, उसकी तुम्हें याद है ? वही शीला थी। वह तुम्हारे तम्बू में इसी लिए ठहर गई थी कि तुम्हारी जगह स्वयं अपने प्राण दे सके। तुम्हें यहाँ लाने का एकमात्र उद्देश्य उस षड्यन्त्र से तुम्हारी जीवनरक्षा करना ही था। मुझे भय है कि इस जगत् की सब से बड़ी विभूति शीला अब तक इस संसार को छोड़ कर चली गई होगी ! (गला भर आता है।)

अशोक—ओह !

[अशोक का सारा शरीर काँपने लगता है। वह बड़ी शीघ्रता से तम्बू से बाहर निकलता है। एक घोड़ा तम्बू के बाहर ही बँधा हुआ है। इस घोड़े पर सवार होकर वह हवा की तेज़ी से अपने शिविर की ओर रवाना हो जाता है।]

(दृश्य बदलता है)

स्थान—अशोक का शिविर।

समय—आधी रात।

[सम्पूर्ण शिविर में कोलाहल मचा हुआ है। सम्राट् अशोक के तम्बू के बाहर, एक खुली जगह को घेर कर हजारों सैनिक पंक्तिबद्ध खड़े हैं। मध्य में सैकड़ों उल्काओं का तेज़ प्रकाश हो रहा है। इस सब के बीचोंबीच शीला की मूर्च्छित देह पड़ी है; उसकी छाती और कन्धे पर भारी घाव पहुँचे हैं। शीला का सम्पूर्ण शरीर खून से लथपथ है। उसके संज्ञाहीन चेहरे पर अब भी प्रसन्नता और सन्तोष की छाया दिखाई दे रही है। तीन-चार प्रमुख जर्राह उसके घावों की परीक्षा और मरहम-पट्टी कर रहे हैं। शीला के पैरों के निकट मगध महा-साम्राज्य के महान् सम्राट् अशोक बच्चों की तरह फूट-फूट कर रो रहे हैं। उनके बाल अस्त-व्यस्त हो गए हैं। सारा शरीर धूल से भर गया है।]

प्रधान जर्राह—(धीरे से) सम्राट्, धैर्य धारण कीजिए। अभी इनमें प्राण बाकी हैं। परमात्मा ने चाहा तो यह होश में आ जायँगी।

अशोक—राजवैद्य, जिस किसी तरह सम्भव हो, मेरी भाभी को बचा लीजिए। मैं सारी उम्र आपका ग़ुलाम रहूँगा। (वैद्य के सन्मुख हाथ जोड़ देते हैं।)

प्रमुख जर्राह—अधीर न होइए सम्राट्। परमात्मा से प्रार्थना कीजिए कि वह हमारे हाथों में यश दें।

[सम्राट् अशोक सचमुच घुटने टेक कर और दोनों हाथ जोड़ कर परमात्मा से प्रार्थना करने लगते हैं। उनके रोने की आवाज तो अब धीमी हो गई है, परन्तु उनकी सिसकियाँ और भी अधिक करुण हो गई हैं।]

अशोक—(सिसकते हुए) पिता, तुम्हारी अनन्त दया से आज मुझ अधम को जो प्रकाश दिखाई दे गया है, उससे मुझे इतना शीघ्र वंचित न कर देना!

(इसी समय सम्पूर्ण बौद्ध-भिक्षुओं सहित आचार्य उपगुप्त का प्रवेश।)

[शीला की मूर्च्छित देह को देख कर उपगुप्त यह निश्चित समझ लेते हैं कि वह निर्जीव हो चुकी है। उनका धैर्य छूट जाता है और वह भी धीरे-धीरे, सिसक पड़ते हैं। सभी भिक्षु मगध-सैनिकों के आगे पंक्ति बाँध कर खड़े हो जाते हैं।]

उपगुप्त—(नजदीक आकर) ओह, बच्ची मेरी! शीला! तुम कहाँ गई? (दोनों हाथों से मुँह ढँक लेते हैं।)

प्रमुख जर्राह—इनमें अभी प्राण बाकी हैं आचार्य! आप अधीर न हों।

[उपगुप्त के मुँह पर प्रसन्नता की एक उज्ज्वल-सी झलक दिखाई देने लगती है। इसी समय शीला आँख खोल कर धीरे-धीरे करवट बदलती है।]

शीला—(बहुत ही क्षीण स्वर में) मैं कहाँ हूँ पिताजी?

पाँचवाँ दृश्य

स्थान—पाटलीपुत्र का नगर-भवन।

समय—सायंकाल।

(नगर-भवन के आँगन में नागरिकों की अपार भीड़ जमा है।)

एक नागरिक—आज यह कैसी अनहोनी बात होने लगी! सम्राट् नागरिकों की इस भीड़ में आने का साहस कैसे करने लगे हैं?

दूसरा नाग०—तुम्हें मालूम नहीं है क्या? सम्राट् अब पहले के सम्राट् नहीं रहे। उनमें बड़ा परिवर्तन आ गया है।

तीसरा नाग०—यही न कि उन्होंने आचार्य उपगुप्त से दीक्षा लेकर बौद्ध-धर्म स्वीकार कर लिया है!

दूसरा नाग०—नहीं, सिर्फ़ इतना ही नहीं। उन्होंने निश्चय कर लिया है कि वह अब अपनी सम्पूर्ण शक्ति प्रजा की भलाई में लगा देंगे।

चौथा नाग०—अजी, यह सब दिखाने की बातें हैं।

पाँचवाँ नाग०—बड़े आदमियों की बातें भी बड़ी होती हैं।

पहला नाग०—मुझे भय है कि आज कोई नागरिक सम्राट् पर आक्रमण ही न कर दे।

चौथा नागरिक—ऐसा होगा, तब तो ख़ैर नहीं। अभी से भाग चलना चाहिए। आख़िर है तो वही अशोक न। बौद्ध हो जाने से क्या हुआ। सभी को जिन्दा भून डालेगा।

[इसी समय सुनाई देता है, 'सम्राट् आ गए!' कुछ ही क्षणों में सम्राट् एक ऊँचे चबूतरे पर दिखाई देते हैं। सब लोग खड़े होकर उन्हें प्रणाम करते हैं, और सब ओर शान्ति छा जाती है।]

पहला नाग०—(धीरे से) सम्राट् ने आज यह साधुओं के-से मामूली वस्त्र क्यों पहन रक्खे हैं !

दूसरा नाग०—मैंने पहले ही कहा था न कि वह बिलकुल बदल गए हैं।

तीसरा ना०—साथ में कोई शरीर-रक्षक भी तो नहीं है।

चौथा ना०—प्रतीत तो ऐसा ही होता है।

पाँचवाँ ना०—चुप रहो, देखो सम्राट् कुछ कहना चाहते हैं।

अशोक—(खड़े हो कर) भाइयो, आज अपने हृदय की कुछ बातें आपसे कहने के लिए मैं आपके बीच में आया हूँ। मेरी आप से नम्र प्रार्थना है कि मेरा निवेदन आप लोग ध्यान से सुनें।

[नगर-भवन के आँगन में गहरा सन्नाटा छा जाता है।]

नागरिको, मैंने आप लोगों पर, मगध-साम्राज्य की प्रजा पर, और कलिंग के सम्पूर्ण निवासियों पर अनगिनत और बड़े-बड़े अत्याचार किए हैं। अपनी शक्ति के मद में अन्धा होकर मैं अभी और भी न-जाने क्या-क्या अनर्थ और अत्याचार करता, परन्तु एक देवी ने अपने अलौकिक चमत्कार से मेरी आँख की पट्टी खोल दी। उसने मुझे सच्ची राह दिखा दी। आज मैंने अनुभव कर लिया है कि अपने जीवन में जो भारी अनर्थ मैं अभी तक कर चुका हूँ, उन का प्रायश्चित भी नहीं है। परन्तु उसी देवी ने मुझे धैर्य दिया है, मुझे साहस बँधाया है। मैं उसका गुनहगार था, इतना बड़ा गुनहगार था कि अपने उस भारी अपराध को बताते

भी मेरी जिह्वा लड़खड़ा जाती है। परन्तु उसने मुझे माफ़ कर दिया ! न केवल माफ़ ही कर दिया, अपितु मेरे बदले में वह अपनी जान तक देने को तैयार हो गई। भाइयो, अपनी उसी भाभी शीला के आशीर्वाद के बल पर मैं आज आपसे अपने अपराधों के लिए क्षमा माँगने आया हूँ। आप चाहें तो मुझे दण्ड दीजिए। मैं उसके लिए भी सहर्ष तैयार हूँ। मेरा कोई शरीर-रक्षक मेरे साथ नहीं है। मैंने निश्चय कर लिया है कि भविष्य में मैं कभी कोई शरीर-रक्षक अपने साथ नहीं रक्खूँगा। आपमें से यदि कोई सज्जन मुझे मेरे पापों की सज़ा देना चाहें, तो वह आगे बढ़कर आएँ और मुझे सज़ा दें। मैं चूँ तक भी न करूँगा।

[अशोक अपनी गरदन झुका कर खड़े हो जाते हैं। परन्तु कोई नागरिक आगे नहीं बढ़ता।]

अशोक—(गरदन सीधी करके) तो भाइयो, क्या मैं समझ लूँ कि आप सब ने मुझे माफ़ कर दिया ?

सभी नागरिक—सम्राट् अशोक की जय हो !

अशोक—(उत्साह के साथ) पाटलीपुत्र के नागरिको, मैं हृदय से तुम्हारा धन्यवाद करता हूँ। तुमने अपनी महान् उदारता से मुझे उबार लिया। अब मैं निश्चिन्त हो कर अपना जीवन अपने महान् गुरु महात्मा बुद्ध के सन्देश को पूरा करने में व्यय कर सकूँगा। भाइयो, आज महात्मा बुद्ध को साक्षी कर मैं यह घोषणा करता हूँ कि भविष्य में मैं इस विशाल मगध-साम्राज्य को अपनी सम्पत्ति नहीं समझूँगा। यह महा-साम्राज्य आप सबकी सम्पत्ति है। मैं तो आपका सेवक मात्र हूँ। इस राज्य का उद्देश्य विश्व-भर

में धर्म, दया और मनुष्यत्व का प्रचार करना है। इसी उद्देश्य के लिए मैं जीऊँगा और जहाँ तक बन पड़ेगा अपने जीवन के भयंकर पापों का प्रायश्चित करने का प्रयत्न करूँगा।

आओ भाइयो, आज हम सब मिल कर संसार को एक नया पाठ पढ़ाना शुरू करें। हम अपने व्यवहार से सिद्ध कर दें कि हमारा यह महा-साम्राज्य राजनीति और शक्ति-संघर्ष के लिए नहीं है, यह धर्म के प्रचार के लिए है। और साथ-ही-साथ हम यह भी सिद्ध कर दें कि हमारा यह धर्म सिद्धान्तों का धर्म नहीं, क्रिया का, आचरण का धर्म है। मैं घोषणा करता हूँ कि स्वयं बौद्ध होते हुए भी मैं किसी मनुष्य से इस कारण घृणा नहीं करूँगा, अथवा इस कारण उसे छोटा या अभागा नहीं समझूँगा कि वह बौद्ध नहीं है। आओ भाइयो, आज हम सब मिलकर यह व्रत लें कि हम मनुष्य से घृणा नहीं करेंगे; हम किसी पर अत्याचार नहीं करेंगे। प्राणिमात्र के लिए सेवा और सहानुभूति का व्यावहारिक प्रदर्शन हमारे इस 'धम्म-साम्राज्य' का एकमात्र ध्येय होगा। हम अपने-आप कष्ट चाहे भले ही सह लें, परन्तु अपने पड़ोसी को दुखी न होने देंगे। आओ भाइयो, हम लोग आज यह संकल्प कर लें कि हम इसी भूमि पर, अपने इसी देश में, स्वर्ग की सृष्टि करके दिखा देंगे। आचार्य उपगुप्त हमारा नेतृत्व करेंगे और इस 'धम्म महा-साम्राज्य' की प्रवर्तिका होंगी, देवी शीला!

सभी नागरिक—(ऊँचे स्वर में) सम्राट् अशोक की जय हो! मगध का 'धम्म-साम्राज्य' चिरजीवी बने!! देवी शीला अमर रहें!!!

[नेपथ्य में राजकीय वाद्ययन्त्रों से एक बहुत ही मधुर और आशापूर्ण स्वर-लहरी निकलने लगती है।]

छठा दृश्य

स्थान—पाटलीपुत्र के राजमहल का उद्यान।

समय—मध्याह्न-पूर्व।

[साम्राज्ञी तिषी के साथ शीला कदम्ब के एक पेड़ के नीचे बैठी है, सम्राट् अशोक की सब से छोटी कन्या संघमित्रा उसकी गोद में है। उसके पास ही चार वर्ष का बालक महेन्द्र खेल रहा है।]

तिषी—उन्होंने दूध तक पीना छोड़ दिया है बहन! कहते हैं जब तक मेरे राज्य में एक भी पशु की हत्या होती है, मेरा दूध पीने का अधिकार नहीं।

शीला—वह जैसी साधना चहते हैं, उन्हें करने दो। आगे आनेवाली सन्तति सम्राट् अशोक के कारनामों को आदरपूर्ण आश्चर्य के साथ देखा करेगी।

तिषी—राज्य के अनेक कर्मचारियों को शिकार का शौक था। उस दिन उन्होंने सब कर्मचारियों को बुला कर बड़े स्नेह के साथ समझाया कि मैं किसी कानून द्वारा आप लोगों को अहिंसक बनाना नहीं चाहता, परन्तु आप सबकी मुझ पर बड़ी कृपा होगी, यदि आप लोग शिकार करना छोड़ दें। शिकार की जगह यदि आप दूर-दूर के प्रान्तों में प्रजाहित के उद्देश्य से जाना चाहें, तो इस कार्य के लिए आपको सरकारी कोष से मार्गव्यय दिया जाया करेगा। परिणाम यह हुआ कि कर्मचारियों में से शिकार का शौक ही जाता रहा है।

शीला—सम्राट् ने उस दिन घोषणा की थी कि हम सब लोग इसी पृथ्वी पर स्वर्ग की सृष्टि कर के दिखा देंगे। आज सच्चे अर्थों में उनकी वह घोषणा पूरी हो रही है।

तिषी—यह सब तुम्हारी ही दया का परिणाम है बहन !

शीला—तुम फिर से वही बातें कहने लगी बहन ! बोलो, तुमने मुझसे क्या प्रतिज्ञा की थी ?

तिषी—मुझे माफ़ का करो बहन ! परन्तु मुझसे रहा नहीं जाता ।

[आचार्य उपगुप्त के शिष्य अन्धे भिक्षु का हाथ पकड़े हुए कुणाल का प्रवेश ।]

कुणाल—(शीला से) चाचीजी, इनसे कहो न कि मुझे वही गीत सुना दें। मैंने इनसे हज़ार प्रार्थनाएँ कीं, परन्तु यह मानते ही नहीं ।

शीला—कौन-सा गीत बेटा ?

कुणाल—वही "नैया" वाला गीत चाचीजी ।

शीला—(तिषी से) तुमने वह नैया वाला गीत सुना है बहन !

तिषी—नहीं तो ।

शीला—(भिक्षु से) अच्छा बेटा, ज़रा एक बार वह गीत फिर से तो सुना दो । साम्राज्ञी तुम्हारा वह गीत सुनना चाहती हैं ।

भिक्षु—(प्रसन्न होकर) बहुत अच्छा माँ !

(वह गीत गाने लगता है)

गीत

किधर आज नैया हमारी लगेगी
कहाँ सूने तट पर यह बंसी बजेगी !
चला जा रहा हूँ मैं पतवार थामे
सरकता है बजरा अलक्षित दिशा में ।

क्षितिज पर खड़ी मौन रंगीन बदली,
किसे ताक शरमा रही है यह पगली।
बहुत दूर है द्वीप जिस में उतरना
अकेले ही मुझको सफ़र हाय ! करना।
यह पड़ने लगी बन की झाँई किनारे
झलकने लगे नील नभ में सितारे।
वहाँ दूर मन्दिर में दीपक जला है।
बटोही उधर कोई गाता चला है।
उदासी भरी विश्व कहता कहानी
किधर तुम छिपी बैठी हो मेरी रानी ??
कभी तुमने भी बाट इसकी है जोही
चला जा रहा है यह इकला बटोही।
किसी जन्म में क्या मिलोगी हे साथिन !
यह बजरा पड़ा आज सूना है तुम बिन।

(चित्रा का प्रवेश)

चित्रा—सब लोग इधर बाग़ में छिपे बैठे हैं। मैं सारा महल ढूँढ़ आई।

शीला—आओ दीदी ! हम लोग फिर से वही गीत सुन रहे थे, जो उस दिन शान्त चाँदनी रात में बजरे की सैर करते हुए पहले-पहल तुम्हारे ही निकट बैठ कर मैंने सुना था।

चित्रा—(शीला के गले में अपनी बाहुएँ डाल कर) एक शुभ समाचार सुनोगी बहन ?

शीला—कहो।

चित्रा—तिष्य का पता मिल गया!

तिषी—(उत्सुकता से) राजकुमार तिष्य का पता मिला गया?

चित्रा—हाँ बहन।

तिषी—तुमने आज यह कितनी खुशी का समाचार सुनाया है चित्रा!

शीला—वह मिले किस जगह?

चित्रा—कामरूप के जंगलों में बसे हुए भीलों के एक गाँव में। और अशोक उन्हें लेने के लिए शीघ्र ही उधर जाने का इरादा कर रहे हैं। मैं भी साथ जाऊँगी।

शीला—तुम वहाँ जाकर क्या करोगी दीदी?

चित्रा—मैं ज़रूर जाऊँगी बहन।

शीला—मगर दीदी! मेरे पाटलीपुत्र छोड़ कर चले जाने के दिन निकट आ रहे हैं।

(तिषी और चित्रा दोनों व्याकुल-सी हो जाती हैं।)

चित्रा—यह क्या कहा बहन?

शीला—मुझे सीमाप्रान्त की ओर जाना होगा दीदी!

चित्रा—(शीला को छाती से लगा कर) तुम हम लोगों को छोड़ कर कैसे जा सकती हो शीला!

तिषी—तुम नहीं जाने पाओगी!

शीला—यह कर्तव्य का सन्देश है दीदी! सीमाप्रान्त के निवासियों में से क्रूरता की और पाशविकता भावना कम किए बिना मेरे चित्त को शान्ति नहीं मिल सकेगी। मैं अन्तरात्मा के इस सन्देश की उपेक्षा कैसे कर सकती हूँ बहन?

चित्रा—मैं यह सब कुछ नहीं जानती। यह असम्भव है। मैं तुम्हारे बिना नहीं रह सकती। नहीं, तुम कहीं न जाने पाओगी।

शीला—(ज़रा-सा मुसकरा कर) कल रात मैंने इस बात पर गम्भीरता से विचार किया था। मुझे सीमाप्रान्त की ओर जाना ही होगा बहन। और जाना भी सदा के लिए होगा। मैं अपना जीवन जिस उद्देश्य के लिए समर्पित कर चुकी हूँ, उसे तो पूरा करना ही होगा। यही आचार्य उपगुप्त का आदेश है; यही मेरी अन्तरात्मा का सन्देश है।

तिषी—तुम अपने इन बच्चों का मोह भी त्याग दोगी बहन ?

चित्रा—तुम चिन्ता मत करो तिषी। देखती हूँ, इन्हें जाने ही कौन देता है। यह भी कभी हो सकता है ! उँह !

(शीला मुसकरा पड़ती है)

[इसी समय बालक महेन्द्र शीला के निकट चला आता है।]

महेन्द्र—(शीला से) मुझे अपनी गोद में बैठा लो माँ !

चित्रा—नहीं, यह तुम्हारी माँ नहीं हैं, यह संघमित्रा की माँ हैं !

महेन्द्र—(मचल कर) नहीं, मेरी माँ हैं !

चित्रा—यह अगर तुम्हारी माँ हैं तो बोलो कुणाल की माँ कौन हैं ?

महेन्द्र—कुणाल की अम्माँ (तिषी की ओर इशारा करके) चाची जी हैं।

[सब लोग हँस पड़ते हैं। शीला महेन्द्र को खींच कर अपनी छाती से लगा लेती है।]

सातवाँ दृश्य

स्थान—पाटलीपुत्र के राजमहल का मुख्य द्वार।
समय—प्रभात।

[शीला बौद्ध-भिक्षुओं के पीले वस्त्र पहन कर सदा के लिए सीमाप्रान्त की ओर प्रस्थान कर रही है। फाटक पर आचार्य उपगुप्त, अशोक, चित्रा, तिषी आदि सभी लोग उपस्थित हैं। राजमहलों के बाहर सड़क के दोनों ओर पंक्ति बाँध कर हजारों नागरिक खड़े हैं। आस्मान में बादल छाए हुए हैं। सब ओर पूरी शान्ति है, केवल उद्यान के किसी निकट कुंज में से एक पपीहे की दर्दभरी पुकार रह-रह कर सुनाई पड़ रही है। सम्राट् अशोक की आँखों में आँसू भरे हुए हैं। राजमहल की देवियाँ सिसक-सिसक कर रो रही है।]

उपगुप्त—(सम्राट् से) धैर्य धारण कीजिए सम्राट्। शीला एक बहुत बड़े उद्देश्य को लेकर सीमाप्रान्त को जा रही हैं। उनके लिए मंगल-कामना कीजिए।

अशोक—क्या आप अब भी अपनी आज्ञा बदल नहीं सकते आचार्य ?

उपगुप्त—मेरी आज्ञा नहीं, अनुमति कहिए। यह तो शीला का निश्चय है। सम्राट् का यह अनुरोध तुम्हीं से है शीला !

शीला—(अशोक की ओर देख कर) मुझे चले जाने दो देवर ! यह मेरे जीवन की साधना है। यह मेरी अन्तरात्मा की पुकार है।

अशोक—(एक क्षण चुप रहने के बाद, गद्गद् स्वर में शीला से) भाभी हम अभागों को अपना अन्तिम आशीर्वाद तो देते जाओ !

शीला—(थोड़ा-सा मुसकरा कर) सुखी रहो देवर !

[इसके बाद शीला सब लोगों को नमस्कार करके बच्चों को प्यार करती है। चित्रा की सिसकियाँ बहुत करुण हो जाती हैं। शीला चलने ही लगती है कि सहसा बालक महेन्द्र 'माँ ! माँ !!' कह कर जोर से रो उठता है और वह आगे बढ़ कर शीला का आँचल पकड़ लेता है।]

शीला—(महेन्द्र को गोद में उठा कर) रोओ मत बेटा ! मैं तुम्हें आशीर्वाद देती हूँ कि तुम अपने पिता के 'धम्म-साम्राज्य' के सब से बड़े सेनानी बनो। मेरे राजा बेटा ! (चुम्बन)

[महेन्द्र को चित्रा की गोद में देकर शीला धीरे-धीरे फाटक की सीढ़ियों पर से उतर कर सड़क पर आजाती है। सभी नागरिक चुपचाप झुक-झुक कर उसे प्रणाम करते जाते हैं। आगे-आगे शीला जा रही है, उसके पीछे आचार्य उपगुप्त हैं और उनके पीछे चार बौद्ध-भिक्षु। धीरे-धीरे वे सब दूर जाकर आँखों से ओझल हो जाते हैं। पपीहे की करुण पुकार अब भी उसी तरह सुनाई दे रही है।]

पटाक्षेप



भय का राज्य

[लेखक—चन्द्रगुप्त विद्यालंकार]

कुछ सम्मतियाँ पढ़िये—

"श्री चन्द्रगुप्त विद्यालङ्कार में कहानी लिखने की असाधारण प्रतिभा है। उनकी कल्पना ऊर्वरा है, भाषा में जीवन है। इस संग्रह की सभी कहानियाँ बहुत उत्तम हैं।"

—ट्रिब्यून [लाहौर]

"श्रीयुत चन्द्रगुप्त विद्यालंकार में जीवित कल्पना शक्ति और विशाल सहानुभूति की भावना है। उनकी शैली स्वाभाविक है, वह कहीं भी बँधकर नहीं चलती।...हमें विश्वास है कि पाठक इन कहानियों को अत्यधिक पसन्द करेंगे।"

—लीडर [अलाहाबाद]

"चन्द्रगुप्त जी बहुत अच्छे कथक्कड़ हैं। उनकी कहानियों में बहुत-सी विशेषताएँ रहती हैं।"

—अर्जुन [दिल्ली]

"हिन्दी-भाषा के कहानी-साहित्य के विकास में श्री चन्द्रगुप्त जी का ऊँचा स्थान है और रहेगा।...'भय का राज्य' पुस्तक कहानी-साहित्य का एक सुन्दर पुष्प है।"

— कर्मवीर [खण्डवा]

"हमें विश्वास है कि कहानी-लेखकों के अखाड़े के सर्वश्रेष्ठ पहलवानों में चन्द्रगुप्त जी का नाम बहुत शीघ्र ही लिख लिया जायगा।"

— चाँद [अलाहाबाद]

"संग्रह की सभी कहानियाँ बहुत अच्छी हैं।"

—माधुरी [लखनऊ]

"चन्द्रगुप्त जी की कल्पना ऊर्वरा है, भाषा में भाव है, चित्रण में रंग है, कहने में ढंग है।"

—जागरण [बनारस]

"एक बार प्रारम्भ करने के पश्चात् पुस्तक रखने की इच्छा नहीं होती।"

—प्रताप [कानपुर]

"हिन्दी के आठ-दस सर्वोच्च कोटि के कहानी-लेखकों में चन्द्रगुप्त जी का प्रमुख स्थान है।"

—चित्रपट [दिल्ली]

"संग्रह की सभी कहानियाँ भावपूर्ण और गम्भीर होने के साथ रोचक भी खूब हैं। अपने वक्तव्य में लेखक ने लिखा है—'मुझे इस बात का अभिमानपूर्ण विश्वास है कि पाठक मेरी इन कहानियों को पसंद करेंगे।' इस अभिमान के वह पूरे अधिकारी हैं।"

—विश्वमित्र [कलकत्ता]

"हिन्दी-जगत चन्द्रगुप्त जी पर नाज़ कर सकता है और वस्तुतः वह हिन्दी जगत् के लिए गौरव हैं।"

—विशाल भारत [कलकत्ता]

"चन्द्रगुप्त जी से हिन्दी को बहुत कुछ आशा है।"

—सरस्वती [अलाहाबाद]

मूल्य १) रुपया

नोटः—विश्व-साहित्य-ग्रन्थमाला श्री चन्द्रगुप्त विद्यालंकार के सम्पादकत्व में प्रकाशित हो रही है। और वह भारतवर्ष की प्रमुख ग्रन्थमालाओं (series) में से है।

इस पते पर पत्र लिख कर सूचीपत्र मँगवाइए—

साहित्य भवन, हस्पताल रोड, लाहौर।

